॥ श्री राम ॥
1175
प्रश्नोत्तरमणिमाला
स्वामी रामसुखदास

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोत्तरमणिमाला

(विविध विषयोंसे सम्बन्धित पाँच सौ प्रश्न और उनके उत्तर)

स्वामी रामसुखदास

॥ श्रीहरि: ॥

अर्पण

प्रश्न—अर्पण करनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—अपनापन छोड़ देना॥ १॥

प्रश्न—भगवान्‌को सर्वस्व अर्पण करनेके बाद क्या पूर्व संस्कारवश निषिद्ध कर्म हो सकता है?

उत्तर—नहीं हो सकता॥ २॥

प्रश्न—क्या भूलवश ऐसा अहंकार हो सकता है कि हमने प्रभुको सर्वस्व अर्पण कर दिया?

उत्तर—नहीं हो सकता। यदि अभिमान होता है तो वास्तवमें पूर्ण समर्पण हुआ ही नहीं। पदार्थोंको भूलसे अपना माना था, वह भूल मिट गयी तो अभिमान कैसा?॥ ३॥

प्रश्न—सर्वस्व अर्पण करनेसे गुणोंके साथ-साथ दोष भी समर्पित हो जायँगे, जैसे मकान बेचनेपर उसमें रहनेवाले साँप-बिच्छू भी उसके साथ चले जाते हैं?

उत्तर—अग्निमें जो भी डाला जाय, वह जलकर अग्निरूप ही हो जाता है। इसीलिये गीतामें आया है—'**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः**' (९। २८) 'इस प्रकार मेरे अर्पण करनेसे तू कर्मबन्धनसे और शुभ (विहित) और अशुभ (निषिद्ध) सम्पूर्ण कर्मोंके फलोंसे तू मुक्त हो जायगा।' '**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि**' (१८। ६६) 'मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा'॥ ४॥
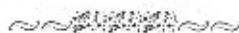
अवतार

प्रश्न—अंशावतार क्या होता है?

उत्तर—भगवान्‌की शक्ति अनन्त है। उस अनन्त शक्तिका एक अंश आनेसे अंशावतार होता है॥ ५॥

प्रश्न—भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भगवान्‌की अवतार-लीलामें वही प्राणी रहते हैं या बदल जाते हैं?

उत्तर—भगवान् आवश्यकता पड़नेपर ही पुनः अवतार लेते हैं, पर उनकी लीलाके प्राणी (पात्र) बदलते रहते हैं। जैसे, रामलीलामें सदा एक ही पात्र काम नहीं करते, बदलते रहते हैं॥ ६॥

प्रश्न—कृष्णावतार सब अवतारोंसे विलक्षण क्यों है?

उत्तर—कृष्णावतारमें प्रेमकी मुख्यता है। अन्य अवतारोंमें भी प्रेमका अभाव नहीं है, पर उनमें प्रेम प्रकट नहीं है॥ ७॥

प्रश्न—एक तो भगवान् अवतार लेकर लीला करते हैं और दूसरा, संसारमें जो हो रहा है, वह सब भगवान्‌की लीला है—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—अवतारकी लीला एकदेशीय होती है और उसमें भगवान्‌के भावकी मुख्यता है। होनेवाली लीला सर्वदेशीय होती है और उसमें भक्तके भावकी मुख्यता है॥ ८॥

प्रश्न—भगवान् तो युक्तयोगी हैं, फिर अवतारकालमें यह बात क्यों नहीं दीखती? अवतारकालमें वे युञ्जानयोगी क्यों दीखते हैं?*

उत्तर—इसका कारण यह है कि अवतारकालमें भगवान् मनुष्यों-जैसी लीला करते हैं। वे कभी माधुर्यकी लीला करते हैं, कभी ऐश्वर्यकी॥ ९॥

---

* जो साधना करके सिद्ध होते हैं, ऐसे महापुरुष 'युञ्जान योगी' कहलाते हैं। साधनामें अभ्यास करते-करते उनकी वृत्ति इतनी तेज हो जाती है कि वे जहाँ वृत्ति लगाते हैं, वहींका ज्ञान उनको हो जाता है। परन्तु भगवान् 'युक्त योगी' कहलाते हैं। वे साधना किये बिना स्वतःसिद्ध, नित्य योगी हैं। जाननेके लिये उन्हें वृत्ति नहीं लगानी पड़ती, प्रत्युत उनमें सबका ज्ञान स्वतः-स्वाभाविक सदा बना रहता है। वे बिना अभ्यासके सदा सब कुछ जाननेवाले हैं।

अहम्

प्रश्न—अहम्‌को करण भी कहा है और कर्ता भी कहा है। करण कर्ता कैसे हो सकता है?

उत्तर—वास्तवमें अहम् करण है, कर्ता तो हम मान लेते हैं—**'कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)॥ १०॥

प्रश्न—मैंपन भूलसे माना हुआ है तो यह भूल किसमें है?

उत्तर—माननेवालेमें है। जिसने एकदेशीयताको स्वीकार किया है, उसमें है। यह भूल अनादि है, पर इसका अन्त होता है॥ ११॥

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन-बुद्धि-अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः ठीक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ १२॥

प्रश्न—अहम्‌रूपी अणु टूटना कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी इच्छाके कारण ही अहंता मिटनी कठिन दीखती है। जीते रहें और सुख-सुविधासे रहें—इसपर अहंता टिकी हुई है॥ १३॥

प्रश्न—'मैं ज्ञानी हूँ' और 'मैं भक्त हूँ'—दोनोंमें अहंभाव समान है, फिर फर्क क्या हुआ?

उत्तर—फर्क यह है कि भक्तिमें तो भगवान्‌का सहारा है, पर ज्ञानमें किसका सहारा है? भगवान्‌का सहारा रहनेके कारण भक्तमें कुछ कमी

भी रह जाय, तो भी उसका पतन नहीं होता*॥ १४॥

प्रश्न—बिना अहंकारके निषिद्ध कर्म हो जाय और अहंकारपूर्वक शुभ कर्म हो जाय तो दोनोंमें क्या ठीक है?

उत्तर—अहंकाररहित होनेपर तो कोई भी कर्म लागू नहीं होता†, पर अहंकारके रहते हुए शुभकर्म भी बन्धनकारक हो जाता है॥ १५॥

---

* बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १८)

'उद्धवजी! मेरा जो भक्त अभी जितेन्द्रिय नहीं हो सका है और संसारके विषय उसे बार-बार बाधा पहुँचाते रहते हैं, अपनी ओर खींचते रहते हैं, वह भी प्रतिक्षण बढ़नेवाली मेरी भक्तिके प्रभावसे प्रायः विषयोंसे पराजित नहीं होता।'

† यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥ (गीता १८। १७)

'जिसका अहंकृतभाव ('मैं कर्ता हूँ'—ऐसा भाव) नहीं है और जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह युद्धमें इन सम्पूर्ण प्राणियोंको मारकर भी न मारता है और न बँधता है।'

आनन्द

प्रश्न—सात्त्विक सुख, शान्ति और आनन्दमें क्या फर्क है?

उत्तर—चिन्मयताके सम्बन्धसे (कीर्तन आदिमें) 'सात्त्विक सुख' मिलता है। सात्त्विक सुखका भोग न करनेसे 'शान्ति' मिलती है। शान्तिका भी उपभोग न करनेसे 'आनन्द' मिलता है।

सात्त्विक सुखमें गुण है, शान्ति और आनन्द गुणातीत हैं।

संसारके त्यागसे शान्ति और परमात्माकी प्राप्तिसे आनन्द मिलता है॥ १६॥

प्रश्न—सांसारिक सुख और पारमार्थिक आनन्दमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सांसारिक सुख दुःखकी अपेक्षासे है अर्थात् सांसारिक सुखके साथ दुःख भी है। परन्तु आनन्द निरपेक्ष है, उसके साथ दुःखका मिश्रण नहीं है। सांसारिक सुखमें विकार है, पर आनन्द

निर्विकार है। सांसारिक सुख विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य है, पर आनन्द संयोगजन्य नहीं है। अतः सांसारिक सुखमें तो भभका है, पर आनन्दमें भभका नहीं है, प्रत्युत वह सम, एकरस, शान्त, निर्विकार है। तात्पर्य है कि विकार, दुःख, परिवर्तन, कमी, हलचल, विक्षेप, विषमता, पक्षपात आदिका न होना ही 'आनन्द' है।

आनन्द दो प्रकारका होता है, अखण्ड आनन्द (निजानन्द) और अनन्त आनन्द (परमानन्द)। मुक्तिका आनन्द 'अखण्ड आनन्द' और प्रेमका आनन्द 'अनन्त आनन्द' है। अखण्ड आनन्द सम, शान्त, एकरस रहता है और अनन्त आनन्द प्रतिक्षण वर्धमान होता है। अतः प्रेमका आनन्द मुक्तिके आनन्दसे बहुत विलक्षण है। मुक्तिमें तो केवल सांसारिक दुःख मिटता है और स्वयं वैसा-का-वैसा रहता है, पर प्रेममें स्वयंका अपने अंशी परमात्माकी ओर खिंचाव होता है।

यदि साधक अपना आग्रह न रखे तो शान्तरस अखण्डरसमें और अखण्डरस अनन्तरसमें स्वतः लीन होता है॥ १७॥

प्रश्न—'सत्' (अपनी सत्ता-) का अनुभव तो सबको होता है, पर 'चित्' और 'आनन्द' का अनुभव सबको नहीं होता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—सत्से चित् स्थूल है और चित्से आनन्द स्थूल है। सत् जितना व्यापक है, उतना चित् नहीं और चित् जितना व्यापक है, उतना आनन्द नहीं। इसलिये जैसा सत्का अनुभव होता है, वैसा चित्का नहीं होता और जैसा चित्का अनुभव होता है, वैसा आनन्दका नहीं होता। चित् और आनन्दमें लौकिक चित् और आनन्द भी आ जाता है, इसलिये साधारण लोग क्रियाशील वस्तुको चेतन तथा लौकिक सुखको आनन्द मान लेते हैं।

सत् सब जगह प्रकट है, चित् जीवोंमें प्रकट है और आनन्द तत्त्वज्ञानीमें प्रकट है॥ १८॥
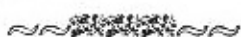
कर्तव्य-कर्म

प्रश्न—कर्मका उपयोग कहाँ है?

उत्तर—संसारसे ऊँचा उठनेके लिये निष्कामभावसे दूसरोंके हितके लिये कर्म करनेकी आवश्यकता है; क्योंकि सकामभावसे अपने लिये कर्म करनेसे ही मनुष्य संसारमें फँसा है। अत: करनेका वेग और वर्तमान रागकी निवृत्तिके लिये कर्म करनेका उपयोग है—**'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते'** (गीता ६। ३)॥ १९॥

प्रश्न—कर्तव्यका पालन कठिन क्यों दीखता है?

उत्तर—कर्तव्य कहते ही उसे हैं, जिसे किया जा सके और जिसे करना चाहिये। जिसे नहीं कर सकते, वह कर्तव्य नहीं होता। अत: कर्तव्यका पालन सबसे सुगम है। अकर्तव्यकी आसक्तिके कारण ही कर्तव्य-पालन कठिन दीखता है॥ २०॥

प्रश्न—कर्तव्य-अकर्तव्यका ज्ञान न होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—पक्षपात, विषमता, ममता, आसक्ति, अभिमान—इनके रहनेसे ही कर्तव्य-अकर्तव्यका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता॥ २१॥

प्रश्न—निष्कामभावसे भोजन करें तो तृप्तिरूप फल होगा ही, फिर निष्कामभावसे किये कर्मका फल नहीं होता—यह बात कैसे?

उत्तर—निष्कामभावसे किये कर्म भुने हुए बीजके समान हो जाते हैं। भुने हुए बीज खेतीके काम तो नहीं आते, पर खानेके काम तो आते ही हैं। अत: निष्कामभावसे किये कर्मका फल तो होता है, पर वह बन्धनकारक नहीं होता। सकामभावसे किये कर्मका फल ही बन्धनकारक होता है—**'फले सक्तो निबध्यते'** (गीता ५। १२)॥ २२॥

प्रश्न—भक्तिमार्गमें कर्म दिव्य कैसे होते हैं?

उत्तर—भगवान्‌में ज्यादा तल्लीन होनेसे भक्तके कर्म दिव्य हो जाते हैं। मीराबाईका तो शरीर भी दिव्य होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया था॥ २३॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि मेरा स्मरण कर और युद्ध अर्थात् कर्तव्य-कर्म भी कर—'मामनुस्मर युध्य च' (८। ७)। यदि भगवान्‌का स्मरण करेंगे तो कर्तव्य-कर्म ठीक नहीं होगा और कर्तव्य-कर्ममें मन लगायेंगे तो भगवान्‌का स्मरण नहीं होगा; अतः दोनों एक साथ कैसे करें?

उत्तर—प्रत्येक कार्य मन लगाकर करना चाहिये, पर उद्देश्य भगवान्‌का होना चाहिये। प्रत्येक कार्यको भगवान्‌का ही कार्य मानकर करना चाहिये। गहने बनाते समय सुनारके भीतर 'यह सोना है'—यह बात बैठी रहती है। इसी तरह सब कार्य करते समय साधकके भीतर 'सब कुछ परमात्मा ही हैं'—यह बात बैठी रहनी चाहिये॥ २४॥

प्रश्न—क्रिया, कर्म, उपासना और विवेक—इन चारोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—'क्रिया' फलजनक नहीं होती अर्थात् किसी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ती। 'कर्म' फलजनक होता है अर्थात् सुखदायी-दु:खदायी परिस्थितिके साथ सम्बन्ध जोड़ता है। 'उपासना' भगवान्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ती है। 'विवेक' जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद करता है।

कर्म और उपासनामें जो क्रिया है, वह कल्याण नहीं करती। कर्ममें निष्कामभाव कल्याण करता है और उपासनामें भगवान्‌का सम्बन्ध कल्याण करता है॥ २५॥

कलियुग

प्रश्न—भगवान्‌ने कलियुग क्यों बनाया?

उत्तर—भगवान्‌ने कलियुग इस उद्देश्यसे बनाया कि जीवका जल्दी कल्याण हो जाय! उसके द्वारा किये गये थोड़े पुण्यकर्मका भी महान् फल हो जाय*! मनुष्यको भगवान्‌के इस उद्देश्यका सदुपयोग करना है, दुरुपयोग नहीं ॥ २६ ॥

प्रश्न—कलियुग कहाँतक अपना प्रभाव डालता है?

उत्तर—कलियुगका प्रभाव इतना ही है कि सत्ययुग आदिमें धर्मका पालन सुगमतासे होता है और कलियुगमें कठिनतासे होता है। कलियुगमें धर्मका पालन कठिनतासे होनेपर भी थोड़े अनुष्ठानका अधिक पुण्य होता है ॥ २७ ॥

प्रश्न—युगोंका ह्रास जिस क्रमसे होता है, उस क्रमसे उत्थान क्यों नहीं होता? कलियुगके बाद द्वापर न आकर सीधे सत्ययुग क्यों आता है?

उत्तर—प्रकृतिका कार्य स्वत: पतनकी ओर जाता है, पर उत्थान भगवत्कृपासे होता है; जैसे—किसी बातको स्वत: भूल जाते हैं, पर याद करना पड़ता है। अत: भगवान् ही कृपा करके कलियुगके बाद सत्ययुग लाते हैं ॥ २८ ॥

प्रश्न—*'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥'* (मानस, उत्तर० १०३। ४)—इसका तात्पर्य क्या है?

---

* कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥ (मानस, उत्तर० १०३ क)
यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥ (विष्णुपुराण ६। २। १५)
'जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य, जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रातमें प्राप्त कर लेता है।'

उत्तर—यह भगवान्‌ने कलियुगमें छूट दी है। मनमें पुण्य-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर किसी कारणसे कर नहीं सके तो भी उसका पुण्य लगेगा। किसी कारणसे मनमें पाप-कर्म करनेकी इच्छा हुई, पर कर सके नहीं और उसका पश्चात्ताप हुआ तो उसका पाप नहीं लगेगा। तात्पर्य है कि मनमें आनेसे पाप नहीं होता, प्रत्युत करनेसे पाप होता है।

जिसकी इच्छा (नीयत) पाप करनेकी है, उसको तो पाप लगेगा ही; क्योंकि इच्छा पापका मूल है, जिससे पाप पैदा होता है*। हाँ, पाप करनेकी नीयत न होनेपर भी किसी कारणसे, पुराने संस्कारोंसे, कलियुगके प्रभावसे मनमें पापकी वासना आ जाय तो उसका दोष नहीं लगेगा ॥ २९ ॥

प्रश्न—आजकल पाखण्डी साधुओंका अधिक प्रचार क्यों होता है?

उत्तर—इसमें कलियुग सहायता करता है। यदि पाखण्डी साधुओंका प्रचार नहीं होगा तो कलियुग कैसे कहलायेगा? वास्तवमें पाखण्डी साधुओंका प्रचार केवल भभका होता है, जो स्थायी नहीं होता। असली, त्यागी साधुका प्रचार स्थायी होता है। उसके द्वारा लोगोंका स्थायी और असली हित होता है। जिसके भीतर थोड़ी भी भोगवासना होती है, उसके द्वारा लोगोंका असली हित नहीं होता ॥ ३० ॥

प्रश्न—स्वर्णमें कलियुगका निवास बताया गया है; अत: स्त्रियोंको सोनेके गहने पहनने चाहिये या नहीं?

उत्तर—गहना पहननेमें दोष नहीं दीखता। स्वर्णको पवित्र माना गया है। स्वर्णके अभिमानमें कलियुगका निवास है ॥ ३१ ॥

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव:।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)
'रजोगुणसे उत्पन्न यह काम अर्थात् कामना ही पापका कारण है। यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है। यह बहुत खानेवाला और महापापी है। इस विषयमें तू इसको ही वैरी जान।'

कामना

प्रश्न—सुखभोगकी इच्छा क्यों होती है?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे अर्थात् शरीरको मैं, मेरा और मेरे लिये माननेसे ही सुखभोगकी इच्छा होती है॥ ३२॥

प्रश्न—कामना और ममता मुझमें हैं या नहीं—इसका पता कैसे चले?

उत्तर—अगर हृदयमें कभी अशान्ति या हलचल होती है तो समझना चाहिये कि भीतरमें कामना है। अपने और परायेका भेद ममताके कारण होता है। जिसमें ममता होती है, उसीका अपनेपर असर पड़ता है॥ ३३॥

प्रश्न—सुखकी कामना और आशामें क्या अन्तर है ?

उत्तर—सुख मिलनेकी तथा दुःख न मिलनेकी 'कामना' होती है और सुख मिलनेकी सम्भावना होनेसे 'आशा' होती है॥ ३४॥

प्रश्न—हमारा दुःख मिट जाय—यह कामना करनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—कोई भी कामना नहीं करनी चाहिये। दुःख मिट जाय—यह कामना करेंगे तो सुखका भोग होगा। बन्धन मिट जाय—यह कामना करेंगे तो मुक्तिका भोग होगा। जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद भी अपने लिये नहीं हो, नहीं तो सूक्ष्म अहम् रह जायगा। तात्पर्य है कि हमें कुछ लेना है ही नहीं।

साधक जितना ही भगवान्‌पर निर्भर होता है, उतना ही वह आगे बढ़ता चला जाता है। वह अपनी कोई इच्छा न रखे, सब भगवान्‌पर छोड़ दे तो बड़ी विलक्षणता आ जाती है और समग्रकी प्राप्ति हो जाती है। अत: अपनी मुक्तिकी भी इच्छा न रखे—यह बढ़िया है। जैसे, नरसीजीको भगवान् शंकरके दर्शन हुए तो उन्होंने कुछ भी माँगा नहीं,

प्रत्युत यही कहा कि जो आपको अच्छा लगे, वही दो। मनुष्य उतनी ही इच्छा करता है, जितना उसको अपनी दृष्टिसे दीखता है। परन्तु आगे तत्त्व अनन्त है। आगे बहुत विलक्षण ऐश्वर्य है। साधक अपना आग्रह न रखे, सन्तोष न करे तो वह स्वत: आगे बढ़ेगा॥ ३५॥

प्रश्न—भगवान् कल्पवृक्ष हैं और मनुष्यमात्र उसकी छायामें रहता है, फिर मनुष्यकी सब इच्छाएँ पूरी क्यों नहीं होतीं ?

उत्तर—कल्पवृक्षसे तो जो माँगो, वही देता है, भले ही उसमें हमारा हित न हो, पर भगवान् वही देते हैं, जिसमें हमारा हित हो। लोग तो वह इच्छा करते हैं, जिससे परिणाममें दु:ख पाना पड़े ! इसलिये भगवान् उनकी इच्छा पूरी नहीं करते कि बस, इतना ही दु:ख काफी है, और दु:ख क्यों चाहते हो! कल्पवृक्ष और देवता तो दुकानदारके समान हैं, पर भगवान् पिताके समान हैं॥ ३६॥

प्रश्न—परन्तु भगवान् सत्-विषयक इच्छा भी कहाँ पूरी करते हैं! साधक उनको चाहते हैं तो क्या वे सबको मिल जाते हैं ?

उत्तर—सत्-विषयक इच्छा इसलिये पूरी नहीं होती कि साथमें असत्‌की इच्छा भी मिली हुई रहती है॥ ३७॥

प्रश्न—एक पुस्तकमें आया है कि मनुष्य जो भी कामना करता है, उसकी पूर्ति होना आवश्यक है; क्या यह ठीक है?

उत्तर—ऐसा होना असम्भव है। कामनाएँ अनन्त हैं; अत: सभी कामनाएँ कभी पूरी नहीं होंगी और मुक्ति भी नहीं होगी! जिस कामनाको लेकर जप-तप आदि किया जाय, उसी कामनाकी पूर्ति होती है । जैसे, ध्रुवजीने राज्य-प्राप्तिकी कामनाको लेकर तपस्या की तो वह कामना पीछे न रहनेपर भी भगवान्‌ने पूरी की। इसी तरह भगवान्‌के पास जाते समय विभीषणके मनमें राज्यकी कामना रही, जिसको भगवान्‌ने पूरा किया। तात्पर्य है कि भगवान्‌के सामने जाते समय जो कामना रहती है, वही कामना बाधक होती है, जिसको

भगवान् पूरी करते हैं॥ ३८॥

प्रश्न—जो किसी कामनाको लेकर भगवान्‌का भजन करता है, उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है क्या?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तो दूर रही, उसका कल्याण भी नहीं हो सकता!॥ ३९॥

प्रश्न—परन्तु भगवान्‌ने धनकी कामनावाले अर्थार्थी भक्तको भी उदार कहा है—'उदाराः सर्व एवैते' (गीता ७। १८)?

उत्तर—अर्थार्थी भक्तके हृदयमें भगवान् मुख्य हैं, धन गौण है। इसलिये भगवान्‌ने कहा है— **'चतुर्विधा भजन्ते माम्'** (गीता ७ । १६)। वह भगवान्‌के सिवाय और किसीसे धन नहीं चाहता। परन्तु जो भक्त नहीं है, वह केवल कामनाकी पूर्तिके लिये भगवान्‌का भजन करता है, उसका कल्याण नहीं हो सकता। कारण कि उसने भगवान्‌को भगवान् (साध्य) नहीं माना है, प्रत्युत कामनापूर्तिका एक साधन माना है। उसका साध्य तो रुपये हैं और भगवान् रुपये छापनेकी मशीनकी तरह साधन हैं। ऐसा व्यक्ति कामना पूरी न होनेपर भगवान्‌को छोड़ देता है। एक स्त्रीका पति बीमार हुआ। किसीने सलाह दी कि ठाकुरजीकी पूजा करो तो पति ठीक हो जायगा। उसने वैसा ही किया। पति ठीक हो गया। दुबारा फिर पति बीमार हुआ तो उस स्त्रीने फिर ठाकुरजीकी पूजा की। पति मर गया। उसने ठाकुरजीको उठाकर बाहर पटक दिया। इस प्रकार भगवान्‌की पूजा करनेवालेका कल्याण नहीं होता॥ ४०॥

प्रश्न—भगवान् हमारे हैं और हमारे लिये हैं, फिर उनसे कुछ माँगनेमें क्या दोष है?

उत्तर—प्रभु मेरे हैं और मेरे लिये हैं—ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि हमें प्रभुसे कुछ लेना है। वे मेरे लिये हैं, इसलिये अपनेको उन्हें देना है, उनके समर्पित होना है। कुछ चाहनेसे हम उनसे अलग

हो जायँगे और अपनेको देनेसे उनसे अभिन्न हो जायँगे। उनसे जिस वस्तुको माँगेंगे, उस वस्तुका महत्त्व हो जायगा। जो वस्तु अपनी और अपने लिये नहीं है, उसकी कामना करनेका हमें अधिकार ही नहीं है॥ ४१॥

गीता

प्रश्न—भगवान्‌ने गीता युद्धके समय ही क्यों सुनायी?

उत्तर—यह बतानेके लिये कि युद्ध-जैसा घोर कर्म करते हुए भी मनुष्य कल्याणको प्राप्त हो सकता है! तात्पर्य है कि साधन किसी परिस्थिति-विशेषकी अपेक्षा नहीं रखता। वह प्रत्येक परिस्थिति, अवस्थामें हो सकता है। कारण कि परमात्मा प्रत्येक परिस्थितिमें ज्यों-का-त्यों विद्यमान है। अतः वह प्रत्येक परिस्थितिमें प्राप्त किया जा सकता है॥ ४२॥

प्रश्न—गीताका सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ क्यों माना गया है?

उत्तर—कारण कि वह सिद्धान्त स्वयं भगवान्‌का है, ऋषि-मुनियोंका नहीं! भगवान् ऋषि-मुनियोंके भी आदि हैं—'**अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः**' (गीता १०। २)। वास्तवमें भगवान्‌का सिद्धान्त ही 'सिद्धान्त' कहनेलायक है। अन्य दार्शनिकोंका सिद्धान्त वास्तवमें 'सिद्धान्त' नहीं है, प्रत्युत 'मत' है॥ ४३॥

प्रश्न—भगवान्‌ने रामायणमें कहा है—'*मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥*' (अरण्य० ३६। ५) अर्जुनने तो भगवान्‌के विश्वरूप, चतुर्भुजरूप और द्विभुजरूप—तीनोंके दर्शन कर लिये थे, फिर उनका मोह दूर क्यों नहीं हुआ?

उत्तर—दर्शन देनेके बाद मोह दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌की होती है। अर्जुनका मोह आगे चलकर नष्ट हो ही गया था—'**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा**' (गीता १८। ७३)। इससे सिद्ध हुआ कि दर्शनके

बाद मोह नष्ट होता ही है। परन्तु अर्जुनने मोह नष्ट होनेमें न तो गीता-श्रवणको और न दर्शनको ही कारण माना है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपाको ही कारण माना है— **'त्वत्प्रसादान्मयाच्युत'**॥ ४४॥

प्रश्न—गीतामें श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणकी मुख्यता बतायी है— 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' (३। २१) और भागवतमें वचनकी मुख्यता बतायी है—'ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्' (१०। ३३। ३२)। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—गीतामें तो संसारकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बतायी है कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही अन्य लोग भी करते हैं। परन्तु वास्तवमें कर्तव्य-अकर्तव्यके विषयमें वचनको प्रमाण मानना श्रेष्ठ है। इसलिये इतिहासकी अपेक्षा विधिको और विधिकी अपेक्षा निषेधको प्रबल माना गया है।

श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणका स्वाभाविक ही दूसरेपर असर पड़ता है, चाहे हम देखें या न देखें। परन्तु जहाँ उनके आचरण और वचनोंमें विरोध दीखे, वहाँ उनके आचरण न देखकर उनके वचनोंका ही पालन करना चाहिये। कारण कि उन्होंने किस परिस्थितितें क्या किया—इसका पता लगता नहीं॥ ४५॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २। १६), फिर प्रकृतिको अनादि क्यों कहा है—'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' (गीता १३। १९)? अनादि कहनेसे यह भाव निकलता है कि प्रकृतिकी सत्ता है?

उत्तर—अज्ञानीको समझानेके लिये अज्ञानीकी ही भाषा बोलनी पड़ती है। हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। वास्तवमें प्रकृतिकी सत्ता है ही नहीं। परन्तु जिनकी दृष्टिमें प्रकृतिकी सत्ता है, उनके लिये प्रकृतिको अनादि कहा गया है। प्रकृति अनादि होते हुए भी अनन्त नहीं है, प्रत्युत सान्त

(अन्तवाली) है।

दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४६॥

प्रश्न—गीताने प्रकृतिको अनादि तो कहा है, पर अनन्त या सान्त नहीं कहा है, ऐसा क्यों?

उत्तर—अगर प्रकृतिको अनन्त (नित्य) कहें तो ज्ञानका खण्डन होता है; क्योंकि ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)। अगर प्रकृतिको सान्त (अनित्य) कहें तो भक्तिका खण्डन होता है; क्योंकि भक्तिकी दृष्टिसे प्रकृति भगवान्‌की शक्ति होनेसे भगवान्‌से अभिन्न है—'**सदसच्चाहम्**' (गीता ९। १९)। अतः भगवान्‌ने ज्ञान और भक्ति—दोनोंकी बात रखनेके लिये ही प्रकृतिको न अनन्त कहा है और न सान्त कहा है, प्रत्युत अनादि कहा है॥ ४७॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि अगर मैं कर्तव्यका पालन नहीं करूँगा तो लोग भी कर्तव्यसे विमुख हो जायँगे, इसलिये मैं भी कर्तव्यका पालन करता हूँ (३। २२—२४)। फिर आजकल लोग अपने कर्तव्यका पालन क्यों नहीं करते?

उत्तर—भगवान्‌की बात उन लोगोंके लिये है, जो भगवान्‌को माननेवाले (आस्तिक) हैं। कारण कि भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर उन्हीं लोगोंपर पड़ेगा, जो भगवान्‌पर श्रद्धा-विश्वास रखते हैं। जो भगवान्‌को नहीं मानते, उनपर भगवान्‌के कर्तव्य-पालनका असर नहीं पड़ेगा। जिनकी विपरीत बुद्धि हो रही है, वे भगवान्‌की कृपाको क्या समझें?॥ ४८॥

प्रश्न—गीतामें भगवान्‌ने कहा है—'सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च' (१०। ४)। 'अभय' दैवी सम्पत्ति है और 'भय' आसुरी सम्पत्ति, फिर दोनों भगवान्‌के स्वरूप कैसे हुए?

उत्तर—दैवी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है और आसुरी सम्पत्ति भी भगवान्‌का स्वरूप है। अभय भी भगवान्‌का स्वरूप है और भय भी भगवान्‌का स्वरूप है। वास्तवमें तत्त्व एक ही है, पर हमारी कामना (भोगेच्छा)-के कारण दो विभाग हो जाते हैं।

भगवान्‌के विराट्‌रूपमें भयभीत भी दीखते हैं—'**रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति**' (गीता ११। ३६), '**केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति**' (गीता ११। २१)। भयभीत भी विराट्‌रूपका ही अंग हैं। तात्पर्य है कि भयभीत होनेवाले भी भगवान् हैं और जिनसे भयभीत हो रहे हैं, वे भी भगवान् हैं।

मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं चाहता, तभी दो विभाग हुए हैं और शास्त्रोंने भी दो विभागों (दैवी-आसुरी, शुभ-अशुभ, विहित-निषिद्ध आदि)-का वर्णन किया है। भेदके मूलमें भोगेच्छा ही है। सम्पूर्ण दुःख, सन्ताप, अनिष्ट आदि भोगेच्छाके कारण ही हैं। भोगेच्छा सर्वथा मिटनेपर मोक्ष ही है॥ ४९॥

प्रश्न—भगवान्‌में मन लगाना करणसापेक्ष साधन है, जिसमें योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। फिर गीतामें भक्तके द्वारा मन लगानेकी बात क्यों आयी है—'मन्मना भव' (९। ३४, १८। ६५)?

उत्तर—वास्तवमें भक्त स्वयं लगता है, मन नहीं लगाता। मन लगाकर स्वयं लगना करणसापेक्ष है, पर स्वयं लगकर मन स्वतः लग जाना करणनिरपेक्ष है। भक्त मन लगाकर स्वयं नहीं लगता। वह स्वयं लगता है (मद्भक्तः), फिर उसके मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ भी अपने-आप लग जाते हैं॥ ५०॥

प्रश्न—गीताने संसारको असत् तो कहा है, पर रज्जुमें सर्पकी तरह अध्यस्त नहीं कहा है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—रस्सीमें सर्प तो बोध होनेके बाद नहीं दीखता, पर संसार बोध होनेके बाद भी दीखता है। आसक्ति (दोष) कर्तामें है, पर दीखती

है संसारमें। अपने रागके कारण ही रुपयोंमें आकर्षण (लोभ) होता है। राग न रहनेपर रुपये तो वैसे ही दीखते हैं, पर आकर्षण नहीं रहता। इसी तरह भोगोंकी आसक्ति न रहनेपर संसार तो दीखता है, पर उसमें आकर्षण नहीं होता।

वास्तवमें संसार अध्यस्त नहीं है, प्रत्युत उसका सम्बन्ध अध्यस्त है। संसार आसक्तको भी दीखता है और विरक्तको भी, पर आसक्तको ठोस दीखता है, विरक्तको पोला। जो है नहीं, पर दीखता है, वह अध्यस्त होता है। परन्तु संसार जैसा है, वैसा ही दीखता है, पर उसका सम्बन्ध (राग) नहीं रहता। ज्ञानी महापुरुषको सोनेकी मुहर मुहररूपसे ही दीखती है, पत्थररूपसे नहीं दीखती, पर उसमें उसका राग नहीं होता। तात्पर्य है कि संसारकी सत्ता बाधक नहीं है, प्रत्युत रागपूर्वक जोड़ा गया सम्बन्ध बाधक है। वैराग्य वस्तुकी सत्ताका नाश नहीं करता, प्रत्युत रागका नाश करता है। रागपूर्वक सम्बन्ध बाँधनेवाला है। संसार दुःखदायी नहीं है, उसका सम्बन्ध दुःखदायी है॥ ५१॥

प्रश्न—रज्जुमें सर्प दीखना 'निरुपाधिक भ्रम' है और दर्पणमें मुख दीखना 'सोपाधिक भ्रम' है। क्या संसारके दीखनेको 'सोपाधिक भ्रम' मान सकते हैं; क्योंकि भ्रम मिटनेपर भी दर्पणमें मुख तो दीखता ही है?

उत्तर—सोपाधिक भ्रम भी नहीं मान सकते; क्योंकि दर्पणमें मुख दीखता तो है, पर वह काम नहीं आता अर्थात् उससे व्यवहार नहीं होता। परन्तु संसारमें राग मिटनेपर भी व्यवहार तो होता ही है॥ ५२॥

प्रश्न—गीतामें आया है कि योगभ्रष्ट पुरुष शुद्ध श्रीमानोंके घरमें जन्म लेता है अथवा योगियोंके कुलमें जन्म लेता है (गीता ६। ४१-४२)। परन्तु जड़भरतने हरिणयोनिमें जन्म लिया। अतः वे कौन-से योगभ्रष्ट थे?

उत्तर—उनको योगभ्रष्ट नहीं कह सकते। कारण कि योगभ्रष्ट अपना

साधन पूरा करनेके लिये शुद्ध श्रीमान्‌के घरमें अथवा योगीके घरमें जन्म लेता है और वहाँ पहले किये हुए साधनमें पुनः लगता है। परन्तु जड़भरतने न तो श्रीमान्‌के घरमें जन्म लिया और न योगीके कुलमें ही जन्म लिया, प्रत्युत हरिणयोनिमें जन्म लिया। उन्होंने हरिणयोनिमें कोई साधन भी नहीं किया। अतः वे योगभ्रष्ट नहीं थे, पर अन्तसमयमें हरिणकी तरफ वृत्ति जानेसे उनको पुनः जन्म लेना पड़ा॥ ५३॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें कर्मयोग (साधन)-को अव्यय कहा है—'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' (४। १)। अव्यय अर्थात् नित्य तो साध्य है, साधन नित्य कैसे?

उत्तर—साधक ही साधन होकर साध्यमें लीन होता है। अतः साधक, साधन और साध्य—तीनों ही तत्त्वसे नित्य हैं। साधक, साधन और साध्य—तीनों एक ही हैं, पर मोहके कारण अलग-अलग दीखते हैं। तीनों नित्य हैं, पर मोह अनित्य है—'**नष्टो मोहः**' (गीता १८। ७३)॥ ५४॥

प्रश्न—भगवान्‌ने गीतामें स्वयं (आत्मा)-को 'शरीरी' (शरीरवाला) और 'देही' (देहवाला) कहा है, इससे सिद्ध हुआ कि स्वयंका शरीरके साथ सम्बन्ध है?

उत्तर—स्वयंका शरीरके साथ किंचिन्मात्र भी सम्बन्ध न कभी था, न है, न होगा और न होना सम्भव ही है। परन्तु भगवान्‌ने साधकोंको समझानेकी दृष्टिसे स्वयंको 'शरीरी' अथवा 'देही' नामसे कहा है। 'शरीरी' कहनेका तात्पर्य यही बताना है कि तुम शरीर नहीं हो। स्वयं परमात्माका अंश है—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७) और शरीर प्रकृतिका अंश है—'**मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि**' (गीता १५। ७)। शरीर प्रतिक्षण नष्ट होनेवाला और असत् है। ऐसे असत् शरीरको लेकर स्वयं शरीरी (शरीरवाला) कैसे हो सकता है? अतः साधक स्वयं शरीर भी नहीं है और शरीरी भी नहीं है॥ ५५॥
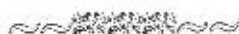
चुप-साधन

प्रश्न—चुप-साधन सुगमतापूर्वक कैसे होता है?

उत्तर—मेरेको बैठना है, चुप-साधन करना है—ऐसा संकल्प रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता; क्योंकि वृत्तिमें गर्भ रहता है। मेरेको कुछ नहीं करना है—यह भी 'करना' ही है। चुप-साधन बढ़िया तब होता है, जब कुछ करनेकी रुचि न रहे। जो देखना था, देख लिया; सुनना था, सुन लिया; बोलना था, बोल लिया। इस प्रकार कुछ भी देखने, सुनने, बोलने आदिकी रुचि न रहे। रुचि रहनेसे चुप-साधन बढ़िया नहीं होता॥ ५६॥

प्रश्न—कुछ करनेकी रुचि न रहे तो सिद्धि हो गयी, फिर साधन कैसे होगा?

उत्तर—सिद्धि होनेपर रुचि नहीं रहती—इतनी ही बात नहीं है, प्रत्युत असत्‌की सत्ता ही उठ जाती है! न करनेकी रुचि रहती है, न नहीं करनेकी रुचि रहती है—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। अत: रुचि न रहनेसे ही सिद्धि नहीं होती, प्रत्युत्त असत्‌की सत्ता न रहनेसे सिद्धि होती है। सर्वथा रुचि न मिटनेपर भी चुप-साधन हो सकता है॥ ५७॥

प्रश्न—चुप-साधनमें बाधक क्या है?

उत्तर—पदार्थ और क्रियाका आकर्षण अर्थात् पदार्थकी आसक्ति और करनेका वेग चुप-साधनमें बाधक है॥ ५८॥

प्रश्न—चुप-साधन और समाधिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—चुप-साधन समाधिसे श्रेष्ठ है; क्योंकि इससे समाधिकी अपेक्षा शीघ्र तत्त्वप्राप्ति होती है। चुप-साधन स्वत: है, कृतिसाध्य नहीं

है, पर समाधि कृतिसाध्य है। चुप होनेमें सब एक हो जाते हैं, पर समाधिमें सब एक नहीं होते। समाधिमें समय पाकर स्वत: व्युत्थान होता है, पर चुप-साधनमें व्युत्थान नहीं होता। चुप-साधनमें वृत्तिसे सम्बन्ध-विच्छेद है, पर समाधिमें वृत्तिकी सहायता है॥ ५९॥

प्रश्न—चुप-साधनमें चिन्तनकी उपेक्षा कौन करता है?

उत्तर—उपेक्षा स्वयं करता है, जो कर्ता है अर्थात् जिसमें कर्तृत्व है। सिद्ध होनेपर वह स्वभाव बन जाता है, उसका कर्तृत्व नहीं रहता॥ ६०॥

प्रश्न—उपेक्षा अथवा साक्षीका भाव रहेगा तो बुद्धिमें ही?

उत्तर—भाव तो बुद्धिमें रहेगा, पर उसका परिणाम स्वयं (स्वरूप)-में होगा; जैसे—युद्ध तो सेना करती है, पर विजय राजाकी होती है। उपेक्षासे, उदासीनतासे स्वयंका जड़तासे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है॥ ६१॥

प्रश्न—जाग्रत्-सुषुप्तिके क्या लक्षण हैं?

उत्तर—जब न तो स्थूलशरीरकी 'क्रिया' हो, न सूक्ष्म-शरीरका 'चिन्तन' हो और न कारणशरीरकी 'निद्रा' तथा 'बेहोशी' हो, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। जाग्रत्-सुषुप्ति और चुप-साधन एक ही हैं।

समाधिमें तो लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वाद—ये चार दोष (विघ्न) रहते हैं, पर जाग्रत्-सुषुप्तिमें ये दोष नहीं रहते। ध्येय परमात्माका होनेसे जब साधककी वृत्तियाँ परमात्मामें लग जाती हैं, तब जाग्रत्-सुषुप्ति होती है। इसमें सुषुप्तिकी तरह बाह्य ज्ञान नहीं रहता, पर भीतरमें ज्ञानका विशेष प्रकाश (स्वरूपकी जागृति) रहता है॥ ६२॥

जीवन्मुक्त(तत्त्वज्ञ)

प्रश्न—ज्ञानी महापुरुषके द्वारा जो क्रियाएँ होती हैं, उनका कर्ता कोई नहीं होता, फिर (अहम्के बिना) वे क्रियाएँ कैसी होती हैं?

उत्तर—जीवन्मुक्तकी क्रियाएँ अभिमानशून्य अहम्से होती हैं, जिसको 'अहंवृत्ति' (वृत्तिरूप समष्टि अहंकार) भी कहते हैं। जब उसका कहलानेवाला शरीर नहीं रहता, तब यह अभिमानशून्य अहम् परमात्मतत्त्वमें विलीन हो जाता है।

जबतक प्रारब्धका वेग रहता है, तबतक जीवन्मुक्तके द्वारा अपने तथा दूसरेके प्रारब्धके अनुसार क्रिया होती है। परन्तु वह क्रिया बिना कर्ताके होती है; जैसे—रेलगाड़ी चल रही हो और ड्राईवर उसमेंसे बाहर कूद जाय तो बिना ड्राईवरके भी वह गाड़ी चलती रहती है अथवा आदमी ठेलेको धक्का देकर फिर स्वयं उसपर चढ़ जाता है तो बिना चालकके भी ठेला (जबतक वेग है, तबतक) चलता जाता है।

मुक्त पुरुषका पहले (साधनावस्थामें) जैसा स्वभाव, संग, शिक्षा, साधना आदि रहे हैं, उसके अनुसार उसके द्वारा सब क्रियाएँ होती हैं। अहंभाव न रहनेसे वे क्रियाएँ फलजनक नहीं होतीं।

दूसरे व्यक्तिके सद्भावके अनुसार जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा विशेष क्रिया हो सकती है, उसके उद्धारका भाव पैदा हो सकता है। अतः उनपर सद्भाव करके मनुष्य बहुत विशेष लाभ ले सकता है॥ ६३॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा व्यवहारमें भूल हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है, तभी उपनिषद्के दीक्षान्त उपदेशमें आया है—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

(तैत्तिरीय० १। ११)

'हमारे जो-जो अच्छे आचरण हैं, उनका ही तुम्हें सेवन करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

यदि व्यवहारमें भूल नहीं होती तो वे ऐसा क्यों कहते? दूसरी बात, उनके सब आचरणोंको हम समझ सकते ही नहीं कि किस समय उन्होंने क्या किया और क्यों किया। अपनी श्रद्धा हो तो उनकी भूलसे भी लाभ ही होता है, नुकसान नहीं। कारण कि श्रद्धालु आदमी अपनी समझकी कमी स्वीकार करता है कि ये तो ठीक करते हैं, पर मैं समझा नहीं। अपनी कमी न माननेसे, अपनी बुद्धिमानीका अभिमान होनेसे ही मनुष्य तत्त्वज्ञ महापुरुषमें दोषारोपण करता है—*'निज अग्यान राम पर धरहीं'* (मानस, उत्तर० ७३। ५)॥ ६४॥

प्रश्न—क्या ज्ञानी महापुरुषके द्वारा निषिद्ध क्रिया भी हो सकती है?

उत्तर—निषिद्ध क्रिया कामनासे होती है*। ज्ञान होनेपर कामनाका सर्वथा नाश हो जाता है—**'परं दृष्ट्वा निवर्तते'** (गीता २। ५९), **'कामक्रोधवियुक्तानाम्'** (गीता ५। २६)। अतः ज्ञानीके द्वारा निषिद्ध क्रिया होना सम्भव ही नहीं है। परन्तु मनके अनुकूल न होनेसे दूसरेको ज्ञानीकी कोई क्रिया निषिद्ध दीख सकती है। कारण कि दूसरेकी कोई क्रिया हमारे मनके प्रतिकूल होगी तो वह हमें बुरी लगेगी ही, भले ही वह क्रिया अच्छी क्यों न हो!† दूसरेने कौन-सी क्रिया किस भावसे की, किस परिस्थितिमें की—इसका निर्णय करना कठिन होता है।

भगवान् और महात्माके द्वारा कभी किसीका अहित नहीं होता—

---

* काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ (गीता ३। ३७)

† द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पण्डितः।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह॥ (महाभारत, उद्योग० ३९। ४)

'जिससे द्वेष हो जाता है, वह न तो साधु, न विद्वान् और न बुद्धिमान् ही जान पड़ता है। प्रियके सभी कर्म शुभ प्रतीत होते हैं और द्वेष्यके सभी कर्म पाप।'

हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥

(मानस, उत्तर० ४७। ३)

नारदजीने नलकूबर और मणिग्रीवको वृक्ष बननेका शाप दिया तो वह शाप भी भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाला हो गया*!॥ ६५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषपर लोकसंग्रहकी जिम्मेवारी रहती है?

उत्तर—जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञ महापुरुषपर लोकसंग्रहकी अथवा प्राणिमात्रका हित करनेकी जिम्मेवारी नहीं रहती। उनका खुदका किंचिन्मात्र भी कोई प्रयोजन नहीं रहता—**'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन'** (गीता ३। १८)। उनपर किसीका भी ऋण नहीं रहता। उनके लिये कुछ भी करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता। परन्तु साधनावस्थामें प्राणिमात्रके हितका स्वभाव होनेसे सिद्धावस्थामें भी उनका वह स्वभाव बना रहता है—**'स्वभावस्तु प्रवर्तते'** (गीता ५। १४)। अतः वे लोकसंग्रह करते नहीं, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः लोकसंग्रह होता है॥ ६६॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषको शारीरिक पीड़ाका अनुभव होता है या नहीं?

उत्तर—उसको पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर दुःख नहीं होता॥ ६७॥

प्रश्न—जब उसका शरीरसे सम्बन्ध रहा ही नहीं तो फिर उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान क्यों होता है?

उत्तर—जीवन्मुक्त होनपर चेतन सर्वव्यापी होता है, प्राण सर्वव्यापी नहीं होते। वह शरीरसे निरपेक्ष होता है, शरीरसे रहित नहीं होता।

---

* साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम्।
दर्शनान्नो भवेद् बन्धः पुंसोऽक्ष्णोः सवितुर्यथा॥ (श्रीमद्भा० १०। १०। ४१)

'जिनकी बुद्धि समदर्शिनी है और हृदय पूर्णरूपसे मेरे प्रति समर्पित है, उन साधु पुरुषोंके दर्शनसे बन्धन होना ठीक वैसे ही सम्भव नहीं है, जैसे सूर्योदय होनेपर मनुष्यके नेत्रोंके सामने अन्धकारका होना।'

उसका शरीरसे ज्ञानपूर्वक सम्बन्ध होता है, अज्ञानपूर्वक नहीं। साधनावस्थासे ही उसका शरीरके साथ सम्बन्ध रहा है, इस कारण उसको शरीरकी पीड़ाका ज्ञान तो होता है, पर उसका असर नहीं पड़ता अर्थात् दुःखरूप विकार नहीं होता। जैसे बचपनमें काँचके टुकड़ोंका भी असर पड़ता था, वे बड़े अच्छे दीखते थे; परन्तु अब हमें काँचके टुकड़ोंका ज्ञान तो है, पर उनका असर नहीं पड़ता।

यदि पीड़ाका ज्ञान न हो तो जीवन्मुक्ति सिद्ध हो ही नहीं सकती। जीवन्मुक्त अर्थात् जीवन (शरीर)-के रहते हुए मुक्त हो गया—ऐसा कहनेका यही अर्थ है कि शरीरकी पीड़ा आदिका असर (सुख-दुःख) नहीं होता। मुक्ति सुख-दुःखसे होती है। सुख-दुःख विकार हैं, ज्ञान विकार नहीं है। ज्ञान तो हो, पर विकार न हो—यह महत्त्वकी बात है। ज्ञान न होना महत्त्वकी बात नहीं है। ज्ञान तो मूर्च्छित व्यक्तिको भी नहीं होता। जो साधारण (बद्ध) मनुष्य है, उसकी वृत्ति अगर दूसरी जगह लगी हो तो उसको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। सती होनेवाली स्त्रीको भी पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अत्यन्त वीर पुरुषको भी युद्धमें पीड़ाका ज्ञान नहीं होता। अतः पीड़ाका ज्ञान न होना तत्त्वज्ञानका अथवा प्रेमका लक्षण नहीं है॥ ६८॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुष यदि व्यवहारमें उतरे तो क्या अहंकार अनिवार्य है?

उत्तर—नहीं। उसके द्वारा अहंकाररहित 'क्रिया' होती है, अहंकारयुक्त 'कर्म' नहीं होता—'**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**' (मुण्डक० २। २। ८)॥ ६९॥

प्रश्न—जीवन्मुक्तके द्वारा शौच-स्नान आदि व्यवहार कैसे होता है?

उत्तर—जैसे कुम्हार एक बार चक्केको चलाकर छोड़ देता है, फिर चक्का स्वतः चलता रहता है, ऐसे ही पूर्वसंस्कारोंके वेगसे जीवन्मुक्तका शरीर चलता रहता है, उसका व्यवहार होता रहता है।

तात्पर्य है कि उसके द्वारा वैसा ही व्यवहार होता है, जैसा पहले होता था। परन्तु ज्ञान होनेपर उसमें निर्लिप्तता आती है, और कोई फर्क नहीं पड़ता। सामान्य लोग जैसे संसारको नित्य मानते हुए व्यवहार करते हैं, ऐसे ही तत्त्वज्ञानीके द्वारा संसारको अनित्य मानते हुए व्यवहार होता है। उसके अनुभवमें अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण संसारका सर्वथा अभाव होता है।

जीवन्मुक्तका व्यवहार तीन कारणोंसे होता है—

१-प्रारब्धसे प्राप्त परिस्थितिके अनुसार।

२-स्वभावके अनुसार*।

३-सामने आये हुए व्यक्ति या समुदायकी भावनाके अनुसार।

यथायोग्य व्यवहार होनेपर भी जीवन्मुक्त महापुरुषकी असंगता ज्यों-की-त्यों रहती है। उनके द्वारा होनेवाली चेष्टाएँ राग-द्वेषरहित होती हैं॥ ७०॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त महापुरुषमें हर्ष-शोक होना, राजी-नाराज होना भी देखा जाता है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—वह केवल दूसरोंके हितके लिये किया गया नाटक है! जैसे, माता-पिता अपने बालकपर क्रोध करते हैं तो केवल उसका हित करनेके लिये करते हैं, अनिष्ट करनेके लिये नहीं। परन्तु जीवन्मुक्तको ऐसा नाटक भी करना नहीं पड़ता, प्रत्युत उनके द्वारा स्वतः दूसरोंके हितकी चेष्टा होती है॥ ७१॥

प्रश्न—क्या मुक्त होनेपर महापुरुष अपने मतका मण्डन तथा दूसरे मतका खण्डन करते हैं?

---

* सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ (गीता ३। ३३)

'सम्पूर्ण प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं। ज्ञानी महापुरुष भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। फिर इसमें किसीका हठ क्या करेगा?'

उत्तर—हाँ, करते हैं; परन्तु उनकी नीयत शुद्ध रहती है। लोग उत्पथगामी (कुमार्गी) न हो जायँ, उनका उद्धार हो जाय, इसके लिये वे अपने अनुभव किये हुए मत (साधन-प्रणाली)-का, जिसमें वे निःसन्देह हैं, प्रचार करते हैं। वे राग-द्वेषपूर्वक खण्डन-मण्डन नहीं करते। वे साधकोंकी दुविधा मिटानेके लिये खण्डन-मण्डन करते हैं; क्योंकि साधकमें दुविधा रहेगी तो वह एक साधनमें पूरी तरह लगेगा नहीं॥ ७२॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रहता है, उसका स्वरूप क्या है?

उत्तर—एक आग्रह (राग) होता है और एक प्रेम। अगर साधन, सत्संग आदिमें आग्रह होगा तो उसमें (साधन आदिमें) बाधा लगनेपर क्रोध आयेगा और प्रेम होगा तो उसमें बाधा लगनेपर रोना आयेगा—यह आग्रह और प्रेमकी पहचान है। बद्ध पुरुषमें तो अपने मतका आग्रह होता है, पर मुक्त पुरुषमें अपने मतका प्रेम होता है। जिस साधनसे मुक्ति प्राप्त की है; उस साधनके प्रति जो प्रेम है, कृतज्ञताका भाव है, वही सूक्ष्म अहम् अथवा अहम्‌का संस्कार है। यह सूक्ष्म अहम् कोई विकार पैदा करनेवाला तो नहीं होता, पर मतभेद पैदा करनेवाला होता है। जैसे जले हुए कागजपर अक्षर दीखते हैं, ऐसे ही मुक्त पुरुषमें अभिमानशून्य अहम् दीखता है। इस सूक्ष्म अहम्‌के कारण ही मुक्त महापुरुषोंमें द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत आदि अनेक मतभेद पैदा हुए हैं॥ ७३॥

प्रश्न—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद क्या उनकी मुक्तिमें बाधक नहीं होता?

उत्तर—आचार्योंमें रहनेवाला मतभेद मुक्तिमें तो बाधक नहीं होता, पर आपसमें मिलन नहीं होने देता।

आचार्योंमें अपने मतके पालनकी बात विशेष होती है, दूसरेके खण्डनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये उनकी मुक्तिमें वह मतभेद

बाधक नहीं होता। परन्तु उनके अनुयायियोंमें दूसरेके खण्डनकी बात विशेष होती है, अपने मतके पालनकी बात विशेष नहीं होती, इसलिये वह मतभेद उनकी मुक्तिमें बाधक होता है। आचार्योंमें दूसरेके हितका भाव विशेष होता है॥ ७४॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, वह क्या पुनः पतन कर सकता है?

उत्तर—सूक्ष्म अहम् रहनेसे उनका पुनः जन्म तो हो सकता है, पर पुनः पतन (बन्धन) नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणका शरीर मिला तो भी उनका पतन नहीं हुआ। हरिणके जन्ममें भी सूखे पत्ते खाकर संयमसे रहते थे। शरीरका मिलना (पुनर्जन्म होना) पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अन्तकालमें किसी विशेष श्रद्धालुकी तरफ वृत्ति जानेसे मुक्त महापुरुषका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता॥ ७५॥

प्रश्न—मुक्तिके बाद रहनेवाला यह सूक्ष्म अहम् कब मिटता है?

उत्तर—परमप्रेम (पराभक्ति)-की प्राप्ति होनेपर यह सूक्ष्म अहम् सर्वथा मिट जाता है। इसीलिये कहा गया है—

प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥

(मानस, उत्तर० ४९। ३)॥ ७६॥

प्रश्न—चैतन्य महाप्रभु तो प्रेमी भक्त थे, फिर उनमें मतभेद (अचिन्त्यभेदाभेद) क्यों पाया जाता है?

उत्तर—चैतन्य महाप्रभुने केवल एक ही मत 'प्रेम'-को स्वीकार किया और उसमें भी केवल 'विप्रलम्भ' (वियोग)-को मुख्यता दी—यह उनमें मतभेद था। वियोगका आग्रह होनेसे उनमें मतभेद हो गया।

जिसमें मतभेद नहीं होता, वह कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—तीनों योगोंकी बात कहता है। वह परमात्माके समग्ररूपको मानता है,

जिसके अन्तर्गत सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार आदि सब रूप और सख्य, वात्सल्य, माधुर्य आदि सब भाव आ जाते हैं॥ ७७॥

प्रश्न—भक्तोंमें अपने मतका आग्रह भी पाया जाता है; जैसे—घण्टाकर्ण भगवान् शंकरके सिवाय अन्य कोई नाम सुनना ही नहीं चाहता था। इसका क्या कारण है?

उत्तर—वास्तवमें भक्तका अपना कोई आग्रह नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌का ही आग्रह होता है—

अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

(मानस, अरण्य० ११।११)

भगवान्‌का ही आश्रय होनेसे भगवान् भक्तके आग्रहको मिटा देते हैं॥ ७८॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त होनेके बाद भी अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है?

उत्तर—नहीं। जबतक अहम् है, तभीतक अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार गति होती है। हाँ, मुक्त होनेपर भी जो सूक्ष्म अहम् रह जाता है, उससे अन्तकालीन चिन्तनके अनुसार जन्म तो हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता। जैसे, जड़भरतको अन्तकालमें हरिणका चिन्तन होनेसे हरिणकी योनिमें जाना पड़ा। परन्तु हरिणका शरीर मिलनेपर भी उनका पतन नहीं हुआ। जैसे नदीका प्रवाह स्वतः समुद्रकी ओर जाता है, ऐसे ही भगवान्‌की तरफ स्वतः प्रवाह होनेके कारण हरिणका शरीर मिलनेपर भी वह प्रवाह बना रहा। वास्तवमें पशु-पक्षी आदिका शरीर मिलना पतन नहीं है, प्रत्युत भीतरी स्थितिसे नीचे गिरना पतन है। अतः अन्तकालमें ज्यादा श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले किसी विशेष प्रियजनकी तरफ वृत्ति जानेसे महात्माका भी पुनर्जन्म हो सकता है, पर पतन नहीं हो सकता॥ ७९॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञानीको संसार स्वप्नकी तरह मिथ्या दीखता है?

उत्तर—विवेकी साधकको संसार स्वप्नकी तरह दीखता है। तत्त्वज्ञानीकी दृष्टिमें तो संसार है ही नहीं! उसकी दृष्टिमें एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है—**'वासुदेवः सर्वम्'** (गीता ७ । १९) ॥ ८० ॥

प्रश्न—क्या मुक्त पुरुषको 'मैं सर्वगत हूँ' ऐसा अनुभव होता है?

उत्तर—मैं सर्वगत (सर्वव्यापी) हूँ—ऐसा अनुभव ऊँचे साधकको होता है। मुक्त होनेपर तो मैं-पन मिट जाता है और एक सत्ताके सिवाय कुछ नहीं रहता। कारण कि जब 'सर्व' की सत्ता ही नहीं है तो फिर सर्वगतका अनुभव कैसे? ॥ ८१ ॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त, तत्त्वज्ञानी महापुरुष सर्वज्ञ होते हैं?

उत्तर—जो करणसापेक्ष शैलीसे (योगाभ्यास करके) सिद्ध हुए हैं, वे सर्वज्ञ हो सकते हैं; क्योंकि वे प्रकृतिको साथ लेकर चले हैं। परन्तु जिन्होंने करणनिरपेक्ष शैलीसे (सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक) साधना की है, वे सर्वज्ञ नहीं होते। वे सर्वज्ञ होनेको महत्त्व ही नहीं देते।

स्वयंमें 'सर्व' की अर्थात् प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है। सर्वज्ञता प्रकृतिमें है। महापुरुषकी दृष्टिमें 'सर्व' है ही नहीं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्यकी सत्ता ही नहीं रहती। प्रकृतिमें स्थित होनेपर ही वह सर्वज्ञ, त्रिकालज्ञ होता है।

महापुरुष सर्वज्ञ तो नहीं होता, पर दूसरे व्यक्तिकी प्रबल जिज्ञासाके कारण उसके हृदयमें भविष्यकी कोई बात स्वतः पैदा हो सकती है ॥ ८२ ॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञ महात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं, फिर लोगोंको दुःखी देखकर उन्हें दुःख क्यों होता है?

उत्तर—दुःख नहीं होता, प्रत्युत व्यवहारमात्र होता है। लोगोंकी दृष्टिसे उनमें दुःख दीखता है, पर वास्तवमें उनके भीतर दुःख नहीं है। परन्तु व्यवहारमें उनके द्वारा दूसरोंका दुःख मिटानेकी चेष्टा वैसी ही होती है। तात्पर्य है कि वे दुःखी नहीं होते, पर दुःख दूर करनेकी

चेष्टा वैसे ही करते हैं, जैसे साधारण मनुष्य करता है।

दूसरेके सुख-दु:खसे सुखी-दु:खी होना भोग है, योग नहीं। महात्माओंमें भोग नहीं होता, प्रत्युत योग होता है। वे दर्पणकी तरह सुख-दु:खको पकड़ते नहीं। योगमें स्वयं सुखी-दु:खी नहीं होता, पर चेष्टा वैसी होती है। यह चेष्टा कर्मयोगी और भक्तियोगीमें विशेष होती है। ज्ञानयोगी तटस्थ रहता है, उसमें समता (निर्लिप्तता) रहती है॥ ८३॥

प्रश्न—जीवन्मुक्त होनेके बाद भी क्या उसका धर्मी रहता है? क्या वह अपना अलग अस्तित्व बनाये रखता है?

उत्तर—हाँ, अलग अस्तित्व रखता है। उसमें 'मैं जीवन्मुक्त हो गया, दूसरे नहीं हुए'—यह भेद रहता है। अगर उसकी दृष्टिमें 'सब जीवन्मुक्त हैं' ऐसा मानें तो भी 'दूसरोंको बन्धनका वहम है, मेरा वहम नहीं है'—यह भेद रहता ही है। इसलिये गीताने जीवन्मुक्तके लिये भी '**स सर्वविद्भजति**' (१५। १९) पदोंसे भजन करनेकी बात कही है।

जीवन्मुक्तिके बाद बहुत दूरतक धर्मी रहता है। प्रेमकी प्राप्ति होनेपर फिर धर्मी नहीं रहता। धर्मी न रहनेपर भी स्वभाव-भेद रहता ही है—'**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि**' (गीता ३। ३३)। तलवारको पारससे छुआ दिया जाय तो उसकी मार, धार और आकार नहीं बदलते, प्रत्युत धातु बदलती है। इसीलिये भगवान्‌ने सिद्ध भक्तोंके लक्षणोंको पाँच भागोंमें विभक्त किया है (गीता १२। १३-१४, १५, १६, १७ और १८-१९)। भगवान्‌ने '**प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्**' (गीता १०। ३०) 'दैत्योंमें प्रह्लाद मैं हूँ'—इन पदोंमें वर्तमानकालका प्रयोग किया है। इससे भक्तोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है। '**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २) 'ज्ञानी महापुरुष महासर्गमें भी पैदा नहीं होते और महाप्रलयमें भी व्यथित नहीं होते'—इन पदोंसे भी ज्ञानी महापुरुषोंका अलग अस्तित्व सिद्ध होता है।

तत्त्वज्ञान होनेपर अपनी सत्ताका नाश नहीं होता, प्रत्युत अपनी परिच्छिन्नताका, जड़-चेतनकी ग्रन्थिका नाश होता है।

जिसकी पहले प्राणिमात्रके हितमें रति रही है, उस मुक्त महापुरुषको भगवान् कारक पुरुषके रूपमें भेजते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि मुक्त होनेपर उसकी अलग सत्ता मिटी नहीं।

भगवान्‌में लीन होनेका यह अर्थ नहीं है कि भक्तकी सत्ता ही नहीं रही। एक मूर्ख आदमी विद्वान् बन जाता है तो क्या उसकी सत्ता मिट जाती है? भगवान्‌में लीन होनेका अर्थ है—भगवान्‌के रूपमें अवतार लेना। जैसे, भगवान् कच्छप, वराह आदि रूपोंमें अवतार लेते हैं तो उनकी सत्ता मिट नहीं जाती। भगवान्‌में लीन होनेपर जैसा होता है, वैसा अभी भी है। भगवान्‌में लीन होना अथवा उनके लोकमें निवास करना—दोनों नित्य हैं और भक्तके भावके अनुसार होते हैं। वास्तविक बातका पता अनुभव होनेपर ही लगता है॥ ८४॥

प्रश्न—कारक पुरुष कौन होते हैं?

उत्तर—जो मुक्त हो गये हैं, भगवान्‌को प्राप्त हो गये हैं, उन्हीं जीवोंमेंसे स्वभावके अनुसार भगवान् उनको कारक पुरुष, यमराज अथवा ब्रह्मा बनाते हैं। 'कारक' का अर्थ है—कल्याण करनेवाला। जिनका स्वभाव पहले प्राणिमात्रका हित करनेका रहा है, उनको भगवान् कारक पुरुष बनाकर पृथ्वीपर भेजते हैं। कारक पुरुषका जन्म भगवान्‌के अवतारकी तरह कर्मोंके अधीन नहीं होता, प्रत्युत भगवान्‌की इच्छाके अधीन होता है। उनके शरीरमें कोई रोग भी नहीं होता। श्रीवेदव्यासजी महाराज ऐसे ही कारक पुरुष थे॥ ८५॥

प्रश्न—क्या जीवन्मुक्त महापुरुषके द्वारा मृत्युसे बचनेकी चेष्टा होती है?

उत्तर—जैसे दूसरे व्यक्तिको बचानेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही उनके द्वारा अपनेको बचानेकी चेष्टा होती है, पर जी जाय या मर जाय—

इसमें कोई फर्क नहीं पड़ता। कारण कि उनमें न तो जीनेकी इच्छा होती है और न मृत्युका भय ही होता है। उनके द्वारा बिना इच्छा और भयके, स्वतः-स्वाभाविक चेष्टा होती है; जैसे—नींदमें मच्छर काटे तो हाथ स्वतः वहाँ जाता है, सर्दी लगे तो हाथ स्वतः कम्बलपर पड़ता है॥ ८६॥

प्रश्न—कोई व्यक्ति जीवन्मुक्त महापुरुषके दर्शन कर ले तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भक्त, जीवन्मुक्त अथवा भगवान्‌के दर्शनसे ही कल्याण हो जाय—यह बात जँचती नहीं। दुर्योधन भगवान् कृष्णको एक चालाक आदमी समझता था तो उसको चालाक आदमीके दर्शन हुए, भगवान्‌के दर्शन कहाँ हुए! तात्पर्य है कि कल्याण होनेमें भावकी मुख्यता है। अपनी भावना (श्रद्धा-प्रेम) विशेष हो तो कल्याण हो सकता है॥ ८७॥

प्रश्न—भीष्म पितामह जीवन्मुक्त थे, फिर दुर्योधनका अन्न खानेसे उनकी बुद्धि अशुद्ध कैसे हो गयी?

उत्तर—मनुष्य जीवन्मुक्त होता है तो उसका शरीर संसारसे अलग नहीं होता, प्रत्युत वह स्वयं शरीरसे अलग हो जाता है। अतः अशुद्ध अन्न खानेसे जीवन्मुक्तकी वृत्तियाँ भी अशुद्ध हो सकती हैं, पर वह वृत्ति तात्कालिक होती है, स्थायी नहीं। भीष्म पितामहके जीवनसे यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्यको खराब अन्न नहीं लेना चाहिये॥ ८८॥
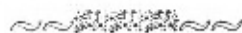
तत्त्वज्ञान

प्रश्न—तत्त्वज्ञान होनेपर किसमें फर्क पड़ता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर न तो स्वयं (आत्मा)-में फर्क पड़ता है और न अन्तःकरण (मन-बुद्धि)-में ही फर्क पड़ता है, प्रत्युत अपनी मान्यतामें फर्क पड़ता है, जो बुद्धिमें दीखती है।

बन्धन और मुक्ति दोनों कर्तामें ही हैं अर्थात् बन्धन और मुक्तिकी मान्यता स्वयंमें है। स्वयंमें इस मान्यताकी स्वीकृति है॥ ८९॥

प्रश्न—तत्त्वज्ञान और तत्त्वनिष्ठामें क्या भेद है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेके बाद तत्त्वनिष्ठा होनेमें समय लगता है, पर मुक्तिमें सन्देह नहीं रहता। तत्त्वज्ञमें कुछ कोमलता रहती है, पर तत्त्वनिष्ठमें स्वतः-स्वाभाविक दृढ़ता रहती है। जैसे नींद खुलनेपर कुछ देरतक आँखोंमें भारीपन रहता है, आँखोंको प्रकाश सहन नहीं होता, ऐसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर पहलेका कुछ संस्कार रहता है। पर तत्त्वनिष्ठा होनेपर यह संस्कार नहीं रहता।

तत्त्वज्ञका व्यवहार जलमें लकीरके समान और तत्त्वनिष्ठका व्यवहार आकाशमें लकीरके समान होता है। गीतामें '**ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः**' (५। २०) पदोंमें आये '**ब्रह्मविद्**' पदसे तत्त्वज्ञान होनेकी और '**ब्रह्मणि स्थितः**' पदोंसे तत्त्वनिष्ठा होनेकी बात आयी है॥ ९०॥

प्रश्न—तत्त्वबोध होनेपर निष्ठा स्वतः होती है या उसके लिये कुछ करना पड़ता है?

उत्तर—निष्ठा स्वतः होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार तत्त्वनिष्ठा होनेमें कम या अधिक समय लगता है। जैसे, शरीरकी प्रकृति अलग होनेसे किसीको जुकाम लगता है तो बहुत जल्दी ठीक

हो जाता है और किसीको जल्दी ठीक नहीं होता। साधक असत्‌को जितनी महत्ता देता है, उतनी ही देरी लगती है और जितनी बेपरवाह करता है, उतनी ही जल्दी निष्ठा होती है॥ ९१॥

प्रश्न—राजा जनकको घोड़ेकी रकाबपर पैर रखते ही तत्त्वज्ञान हो गया तो ऐसे तत्काल तत्त्वज्ञान होनेमें क्या कारण है?

उत्तर—तीव्र जिज्ञासा हो, वर्तमान स्थितिमें सन्तोष न हो, अपनेमें कमीका अनुभव हो तथा वह कमी सह्य न हो तो बहुत जल्दी काम होता है। अत्यन्त श्रद्धा हो तो भी जल्दी काम होता है; जैसे—सन्त कह दें कि अमुक पदार्थ सोनेका है तो वह वैसा ही (सोनेका) दीखने लग जाय॥ ९२॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेपर स्वयंकी सम्पूर्ण शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं?

उत्तर—स्वयंमें अनन्त शक्तियाँ हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान होनेपर वे सब शक्तियाँ प्रकट नहीं होतीं। तत्त्वज्ञानी महापुरुष 'युञ्जान योगी' होता है। अतः वह जहाँ वृत्ति लगाता है, वही शक्ति प्रकट होती है॥ ९३॥

प्रश्न—सात्त्विक ज्ञान और तत्त्वज्ञानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सात्त्विक ज्ञानमें संग है—**'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ'** (गीता १४। ६), पर तत्त्वज्ञान सर्वथा असंग है। सात्त्विक ज्ञानमें द्रष्टा (देखनेवाला) रहता है, पर तत्त्वज्ञानमें द्रष्टा नहीं रहता। सात्त्विक ज्ञानमें 'मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार अपनेमें विशेषताका भान होता है, पर तत्त्वज्ञानमें (ज्ञानी अर्थात् अहंभाव न रहनेसे) अपनेमें विशेषता नहीं दीखती॥ ९४॥

प्रश्न—क्या तपस्यासे ब्रह्मज्ञान हो सकता है?

उत्तर—तपस्यासे ब्रह्मज्ञान परम्परासे हो सकता है, साक्षात् नहीं। वेदान्तमें ज्ञानप्राप्तिके आठ अंतरंग साधन बताये हैं—विवेक, वैराग्य, शमादि षट्सम्पत्ति, मुमुक्षुता, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और

तत्त्वपदार्थसंशोधन। तपस्या ज्ञानप्राप्तिका अंतरंग साधन नहीं है, प्रत्युत बहिरंग साधन है।

गीतामें ज्ञानको भी तप माना गया है—'**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः**' (४। १०)। शारीरिक तप साधनमें सहायक तो हो सकता है, पर उससे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता। शारीरिक तपसे अभिमान भी पैदा हो सकता है॥ ९५॥

प्रश्न—ज्ञान तो अनन्त है, फिर 'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—यह कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—वास्तवमें ज्ञान अनन्त है। अतः 'तत्त्वज्ञान होनेपर जानना बाकी नहीं रहता'—ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि हमारी जिज्ञासा पूरी हो गयी। जैसे, हम कहते हैं कि मैंने पानी पी लिया तो इसका यह अर्थ नहीं है कि संसारमें पानी नहीं रहा, प्रत्युत यह अर्थ है कि हमारी प्यास बुझ गयी॥ ९६॥

प्रश्न—क्या तत्त्वज्ञान होनेके बाद भी ज्ञान बढ़ता रहता है?

उत्तर—तत्त्वज्ञान होनेपर बोधमें तो कोई फर्क नहीं पड़ता, पर जबतक तत्त्वज्ञ महापुरुषका शरीर रहता है, तबतक पहलेके अभ्यास अथवा स्वभावके कारण उसका विवेक (व्यवहारमें) बढ़ता रहता है। विवेक बढ़नेसे उसका विवेचन भी स्पष्ट तथा बढ़िया होता है और उसमें नये-नये दृष्टान्त, युक्तियाँ आती हैं। जैसे गैसबत्तीका मेण्टल जलनेके बाद विशेष प्रकाश देता है, ऐसे ही तत्त्वबोध होनेके बाद उस महापुरुषका विवेक विशेष प्रकाशित होता है। यह विशेषता चेतन (स्वरूप)-में नहीं आती, प्रत्युत जड़ (व्यवहार)-में आती है। कारण कि तत्त्वबोध होनेपर जड़-चेतनका सर्वथा विभाग हो जाता है अर्थात् जड़-चेतनकी ग्रन्थि टूट जाती है॥ ९७॥

दान

प्रश्न—क्या मृत्युके बाद नेत्रदान करना उचित है?

उत्तर—सर्वथा अनुचित है। जैसे सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (व्यस्क)-को होता है, नाबालिग (अव्यस्क)-को नहीं होता, ऐसे ही शरीरके किसी अंगका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपनी मुक्ति (कल्याण) कर लिया है, अपना मनुष्यजन्म सफल बना लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं।

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अंग काटनेसे अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता। अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अंगपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है॥ ९८॥

प्रश्न—दान अपनी वस्तुका ही होता है—'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वक परसत्त्वोत्पादनम् दानम्', फिर कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवा करता है—यह बात कैसे?

उत्तर—वस्तु अपनी माननेसे कामना होती है। उसीकी वस्तु उसीको दे दी तो फिर कामना कैसे? कामना करना बेईमानी है। वास्तवमें अपना कुछ नहीं है। जो भी वस्तु हमारे पास है, वह मिली है और बिछुड़नेवाली है। अत: जो मिला है, वह दूसरोंकी सेवाके लिये ही है।

जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उसका त्याग कभी होता ही नहीं।

क्या स्वरूपका त्याग हो सकता है? क्या सूर्य अपनी किरणोंका त्याग कर सकता है? नहीं कर सकता। त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया है। अत: अपनी मानकर वस्तु देना राजस-तामस त्याग है, जिससे मुक्ति नहीं होती॥ ९९॥

प्रश्न—पति दान करनेसे मना करता हो तो क्या पत्नी छिपकर दान कर सकती है?

उत्तर—दान करना दोषी नहीं है, पर छिपकर दान करना दोषी है। स्त्रीको चाहिये कि वह पतिसे मासिक ले और उसमेंसे अर्थात् अपने हकके रुपयोंमेंसे दान करे। अपने हिस्सेकी वस्तुमें तो उसका अधिकार है ही।

पति आदिसे छिपाकर दान करना 'गुप्त दान' नहीं है, प्रत्युत चोरी है। गुप्त दान वह है, जिसमें लेनेवालेको पता ही न लगे कि किसने दिया॥ १००॥

प्रश्न—कुछ लोग अपने घरके बाल-बच्चोंको, पत्नीको वस्तु न देकर दूसरोंको देते हैं, उनकी सेवा करते हैं—यह उचित है क्या?

उत्तर—ऐसे लोग वास्तवमें अपना कल्याण नहीं चाहते, प्रत्युत मान-बड़ाई चाहते हैं। वस्तुओंपर अपने परिवारवालोंका पहला हक है। जो हमसे जितना नजदीक होता है, उतना ही उसका अधिक हक होता है, उतना ही वह सेवाका अधिकारी होता है। परिवारवालोंका हमपर ऋण है। ऋण पहले उतारना चाहिये, दान-पुण्य पीछे करना चाहिये॥ १०१॥

प्रश्न—अपनेपर कर्जा हो तो क्या दान-पुण्य कर सकते हैं?

उत्तर—कर्जदार व्यक्तिको दान-पुण्य करनेका अधिकार नहीं है। इसलिये पहले कर्जा चुकाना चाहिये। हाँ, यदि दान-पुण्य करना ही हो तो अपने रोटी-कपड़ेके खर्चेमेंसे निकालकर करना चाहिये॥ १०२॥

प्रश्न—मृतात्माके निमित्त ब्राह्मणको शय्या, वस्त्र आदिका दान करते हैं तो ब्राह्मण उन्हें बेच देते हैं और रुपये इकट्ठे कर लेते हैं, यह

ठीक है क्या?

उत्तर—ब्राह्मणको दानमें मिली वस्तु बेचनी नहीं चाहिये, प्रत्युत उसको अपने काममें लेनी चाहिये। यदि वह उस वस्तुको बेचता है तो उसको पाप लगता है और जो उसको खरीदता है, वह उस मृतात्माका कर्जदार होता है।

यदि विधिकर्ता ब्राह्मणको शय्या आदि वस्तुओंकी आवश्यकता न हो तो यजमानको चाहिये कि वह उस ब्राह्मणसे विधि (संकल्प) करवा ले और उन वस्तुओंको दूसरे गरीब, अभावग्रस्त ब्राह्मणको दे दे। यदि विधिकर्ता ब्राह्मण ऐसा करनेमें राजी न हो तो उसको वस्तुएँ दे दे, फिर उन वस्तुओंको पैसे देकर वापिस खरीद ले और उन्हें दूसरे गरीब ब्राह्मणको दे दे। ऐसा करनेसे विधिकर्ता ब्राह्मणको तो रुपये मिल जायँगे और गरीब ब्राह्मणको वस्तुएँ मिल जायँगी। तात्पर्य है कि वस्तुएँ उसी ब्राह्मणको देनी चाहिये, जो उनको खुद काममें ले॥ १०३॥

प्रश्न—पैसा देकर वस्तु खरीदनेपर तो दोष नहीं लगता, फिर ब्राह्मणसे शय्या आदि खरीदनेवाला दोषी (मृतात्माका कर्जदार) क्यों होता है?

उत्तर—वह सस्तेमें वस्तुएँ खरीदता है, इसीलिये उसको दोष लगता है। यदि सवाया-ड्योढ़ा अधिक मूल्य देकर खरीदे तो दोष नहीं लगेगा॥ १०४॥

दान

प्रश्न—क्या मृत्युके बाद नेत्रदान करना उचित है?

उत्तर—सर्वथा अनुचित है। जैसे सम्पत्ति देनेका अधिकार बालिग (व्यस्क)-को होता है, नाबालिग (अव्यस्क)-को नहीं होता, ऐसे ही शरीरके किसी अंगका दान करनेका अधिकार जीवन्मुक्त महापुरुषको ही है। जिसने अपनी मुक्ति (कल्याण) कर लिया है, अपना मनुष्यजन्म सफल बना लिया है, वह बालिग है, शेष सब नाबालिग हैं। जीवन्मुक्त महापुरुष भी शरीरके रहते हुए ही नेत्रदान कर सकता है, शरीर छूटनेके बाद नहीं।

शवके साथ छेड़छाड़ नहीं करनी चाहिये। शवका कोई अंग काटनेसे अगले जन्ममें वह अंग नहीं मिलता। अंग मिलता भी है तो उसमें कमी अथवा चिह्न रहता है। कुछ व्यक्तियोंमें पूर्वजन्मका चिह्न इस जन्ममें भी देखा गया है। बालकके मरनेपर माताएँ उसके किसी अंगपर लहसुन लगा देती हैं तो वह चिह्न अगले जन्ममें भी रहता है॥ ९८॥

प्रश्न—दान अपनी वस्तुका ही होता है—'स्वस्वत्वपरित्यागपूर्वक परसत्त्वोत्पादनम् दानम्', फिर कर्मयोगी किसी भी वस्तुको अपनी न मानकर दूसरोंकी सेवा करता है—यह बात कैसे?

उत्तर—वस्तु अपनी माननेसे कामना होती है। उसीकी वस्तु उसीको दे दी तो फिर कामना कैसे? कामना करना बेईमानी है। वास्तवमें अपना कुछ नहीं है। जो भी वस्तु हमारे पास है, वह मिली है और बिछुड़नेवाली है। अतः जो मिला है, वह दूसरोंकी सेवाके लिये ही है।

जो वस्तु वास्तवमें अपनी है, उसका त्याग कभी होता ही नहीं।

क्या स्वरूपका त्याग हो सकता है? क्या सूर्य अपनी किरणोंका त्याग कर सकता है? नहीं कर सकता। त्याग उसीका होता है, जो अपना नहीं है, पर भूलसे अपना मान लिया है। अत: अपनी मानकर वस्तु देना राजस-तामस त्याग है, जिससे मुक्ति नहीं होती॥ ९९॥

प्रश्न—पति दान करनेसे मना करता हो तो क्या पत्नी छिपकर दान कर सकती है?

उत्तर—दान करना दोषी नहीं है, पर छिपकर दान करना दोषी है। स्त्रीको चाहिये कि वह पतिसे मासिक ले और उसमेंसे अर्थात् अपने हकके रुपयोंमेंसे दान करे। अपने हिस्सेकी वस्तुमें तो उसका अधिकार है ही।

पति आदिसे छिपाकर दान करना 'गुप्त दान' नहीं है, प्रत्युत चोरी है। गुप्त दान वह है, जिसमें लेनेवालेको पता ही न लगे कि किसने दिया॥ १००॥

प्रश्न—कुछ लोग अपने घरके बाल-बच्चोंको, पत्नीको वस्तु न देकर दूसरोंको देते हैं, उनकी सेवा करते हैं—यह उचित है क्या?

उत्तर—ऐसे लोग वास्तवमें अपना कल्याण नहीं चाहते, प्रत्युत मान-बड़ाई चाहते हैं। वस्तुओंपर अपने परिवारवालोंका पहला हक है। जो हमसे जितना नजदीक होता है, उतना ही उसका अधिक हक होता है, उतना ही वह सेवाका अधिकारी होता है। परिवारवालोंका हमपर ऋण है। ऋण पहले उतारना चाहिये, दान-पुण्य पीछे करना चाहिये॥ १०१॥

प्रश्न—अपनेपर कर्जा हो तो क्या दान-पुण्य कर सकते हैं?

उत्तर—कर्जदार व्यक्तिको दान-पुण्य करनेका अधिकार नहीं है। इसलिये पहले कर्जा चुकाना चाहिये। हाँ, यदि दान-पुण्य करना ही हो तो अपने रोटी-कपड़ेके खर्चेमेंसे निकालकर करना चाहिये॥ १०२॥

प्रश्न—मृतात्माके निमित्त ब्राह्मणको शय्या, वस्त्र आदिका दान करते हैं तो ब्राह्मण उन्हें बेच देते हैं और रुपये इकट्ठे कर लेते हैं, यह

ठीक है क्या?

उत्तर—ब्राह्मणको दानमें मिली वस्तु बेचनी नहीं चाहिये, प्रत्युत उसको अपने काममें लेनी चाहिये। यदि वह उस वस्तुको बेचता है तो उसको पाप लगता है और जो उसको खरीदता है, वह उस मृतात्माका कर्जदार होता है।

यदि विधिकर्ता ब्राह्मणको शय्या आदि वस्तुओंकी आवश्यकता न हो तो यजमानको चाहिये कि वह उस ब्राह्मणसे विधि (संकल्प) करवा ले और उन वस्तुओंको दूसरे गरीब, अभावग्रस्त ब्राह्मणको दे दे। यदि विधिकर्ता ब्राह्मण ऐसा करनेमें राजी न हो तो उसको वस्तुएँ दे दे, फिर उन वस्तुओंको पैसे देकर वापिस खरीद ले और उन्हें दूसरे गरीब ब्राह्मणको दे दे। ऐसा करनेसे विधिकर्ता ब्राह्मणको तो रुपये मिल जायँगे और गरीब ब्राह्मणको वस्तुएँ मिल जायँगी। तात्पर्य है कि वस्तुएँ उसी ब्राह्मणको देनी चाहिये, जो उनको खुद काममें ले॥ १०३॥

प्रश्न—पैसा देकर वस्तु खरीदनेपर तो दोष नहीं लगता, फिर ब्राह्मणसे शय्या आदि खरीदनेवाला दोषी (मृतात्माका कर्जदार) क्यों होता है?

उत्तर—वह सस्तेमें वस्तुएँ खरीदता है, इसीलिये उसको दोष लगता है। यदि सवाया-ड्योढ़ा अधिक मूल्य देकर खरीदे तो दोष नहीं लगेगा॥ १०४॥

दोष(काम-क्रोधादि)

प्रश्न—जैसे द्रवित मोममें जो रंग डाला जाय, वही उसमें बैठ जाता है, ऐसे ही द्रवित चित्तमें जो कामादि दोष बैठ गये हैं, उनको कैसे निकालें?

उत्तर—द्रवित चित्तमें काले श्यामसुन्दरको बैठा दें। काले रंगमें सब रंग समा जाते हैं॥ १०५॥

प्रश्न—दोष आने-जानेवाले हैं, पर दीखता ऐसा है कि दोष कहींसे आते नहीं, प्रत्युत अपने भीतर ही रहते हैं और समयपर जाग्रत् हो जाते हैं?

उत्तर—दोष अन्त:करणमें आदतरूपसे, संस्काररूपसे रहते हैं और अन्त:करणमें ही जाग्रत् होते हैं। परन्तु अन्त:करणके साथ तादात्म्य होनेसे उन दोषोंको हम अपनेमें मान लेते हैं। अत: साधकमें यह सावधानी रहनी चाहिये कि वह दोषोंको अपनेमें न माने। कारण कि वास्तवमें दोष अपनेमें होते नहीं। स्वरूप निर्दोष है॥ १०६॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि स्वरूप निर्दोष है और एक बात कही जाती है कि *'मो सम कौन कुटिल खल कामी'*—दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—दोनों ही बातें ठीक हैं; क्योंकि दोनोंका परिणाम एक ही है और वह है—निर्दोष होना। पहली बात ज्ञानकी दृष्टिसे कही गयी है और दूसरी बात भक्तिकी दृष्टिसे। अपने स्वरूपको देखें तो वह निर्दोष है। भक्त भगवान्‌के सामने अपने दोषोंको कहता है तो उसका उद्देश्य दोषोंको रखनेका नहीं है, प्रत्युत मिटानेका है। भगवान्‌के सामने कोई दोष टिक सकता है क्या?

'मो सम कौन कुटिल खल कामी'—ऐसा कहना अपनेमें दोषोंकी स्थापना करना नहीं है, प्रत्युत अपने दोषोंको भगवान्‌के सामने रखना है, उनको आगमें डालकर भस्म करना है।

जो साधक होता है, उसको अपनेमें थोड़ा भी दोष बहुत बड़ा दीखता है। वह चक्षुगोलकके समान होता है—**'अक्षिपात्रकल्पं योगिनम्'** (योगदर्शन २। १६ का व्यासभाष्य)। जैसे, पीठपर तिनका पड़ा हो तो कोई पीड़ा नहीं होती, पर आँखमें पड़ा छोटे-से-छोटा तिनका भी पीड़ा देता है॥ १०७॥

प्रश्न—सर्वथा निर्दोष जीवन कैसे मिलेगा?

उत्तर—सर्वथा निर्दोष जीवन मिलेगा निर्मम-निरहंकार होनेसे! कारण कि अहंता-ममता ही सम्पूर्ण दोषोंका घर है॥ १०८॥

प्रश्न—जो वस्तुएँ विजातीय हैं, उनमें ममता, कामना, आसक्ति कैसे होती है?

उत्तर—विजातीय शरीरको अपना स्वरूप ('मैं') मानकर हम सजातीय हो गये, इसलिये ममता, कामना, आसक्ति होती है॥ १०९॥

प्रश्न—क्रोध आनेपर क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप हो जाना चाहिये। बोलनेसे क्रोध बढ़ता है, चुप होनेसे क्रोध शान्त होता है। यदि बोले बिना रहा न जाय तो मुखमें ठण्डा जल भर ले और उसको कुछ देरतक मुखमें ही रखकर फिर धीरे-धीरे पी जाय। जलसे क्रोधरूपी अग्नि शान्त होती है।

मूलमें क्रोध अहंकार और कामनासे पैदा होता है—**'कामात्क्रोधोऽभिजायते'** (गीता २। ६२)। जब अभिमानरूपी फोड़ेमें ठेस लगती है अथवा मनके विरुद्ध कोई बात होती है, तब क्रोध आता है। इसलिये अहंकार और कामनाका त्याग करना चाहिये।

शरीर संसारका है और मैं भगवान्‌का हूँ। मैं शरीरसे सर्वथा अलग हूँ। इस प्रकार विवेककी प्रधानता होनेसे क्रोध नहीं आता।

बड़ोंपर क्रोध आये तो उनके चरणोंमें गिर जाना चाहिये कि मुझे क्रोध आ गया!

सत्संग करनेसे स्वभाव सुधरता है और काम-क्रोधादि दोष कम होते हैं॥ ११०॥

प्रश्न—कामवृत्तिका नाश कैसे हो?

उत्तर—शरीरके साथ अपना सम्बन्ध माननेसे ही काम-वृत्ति पैदा होती है। हमारा स्वरूप सत्तामात्र है। सत्तामात्रकी तरफ वृत्ति रहनेसे कामवृत्तिका नाश हो जाता है। कारण कि सत्तामें विकार नहीं है और विकारमें सत्ता नहीं है।

विचार करनेसे अथवा भगवान्‌से प्रार्थना करनेसे भी 'काम'से बचा जा सकता है। दृढ़ निश्चयसे भी 'काम' दूर हो जाता है; जैसे—पहले जमानेमें राजालोग ही नहीं, डाकू भी स्त्रियोंसे दुर्व्यवहार नहीं करते थे तो यह उनका दृढ़ निश्चय था।

'काम' नीरसतासे पैदा होता है। जैसे कुत्तेको मांस नहीं मिलता तो वह सूखी हड्डी ही चबाता है, जिससे उसके मुखसे खून निकलता है और वह उसीसे राजी हो जाता है! ऐसे ही नीरसतामें मनुष्य देखता है कि कोई भी भोग मिल जाय तो थोड़ा सुख ले लें! यदि भगवान्‌में प्रियता हो जाय तो नीरसता दूर हो जायगी और नीरसता दूर होनेसे 'काम' भी नहीं रहेगा॥ १११॥

प्रश्न—सब कुछ भगवान् ही हैं; अतः 'काम' भी भगवान्‌का स्वरूप हुआ, फिर उसका निषेध क्यों?

उत्तर—मृत्यु भी भगवान्‌का स्वरूप है—'**मृत्युः सर्वहरश्चाहम्**' (गीता १०। ३४) तो क्या कोई जान-बूझकर मरना चाहेगा? नरक भी भगवान्‌का स्वरूप है तो क्या कोई नरकोंमें जाना चाहेगा? परन्तु मनुष्यका उद्देश्य सदा अपने कल्याणका, आनन्दका ही होता है, दुःखका नहीं। अतः निषिद्ध क्रिया कभी नहीं करनी चाहिये॥ ११२॥

प्रश्न—ममता मिटानेका उपाय क्या है?

उत्तर—ममता-कामना मिटानेके लिये किसी श्रमसाध्य साधनकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत विचारकी आवश्यकता है। मिलने और बिछुड़नेवाली वस्तु अपनी नहीं होती—यह विचार करना चाहिये॥ ११३॥

प्रश्न—किसीमें बुराई दीखे तो क्या करना चाहिये? उसका सुधार करें, उपेक्षा करें या प्रभुकी लीला मानें?

उत्तर—उसके सुधारकी चेष्टा करें और यदि वह न माने तो प्रभुकी लीला समझकर उपेक्षा कर दें॥ ११४॥

प्रश्न—कोई भी व्यक्ति बुरा नहीं है, कैसे?

उत्तर—सम्पूर्ण जीव परमात्माके अंश हैं—'**ममैवांशो जीवलोके**' (गीता १५। ७) और परमात्माका अंश कभी बुरा नहीं होता। बुराई तो आगन्तुक है अर्थात् संसारके सम्बन्धसे बुराई आयी है, मूलमें है नहीं। बुराईकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत भलाईकी कमीका नाम ही बुराई है॥ ११५॥

प्रश्न—अगर किसीकी भी बुराई देखना दोष है तो फिर बुराई देखे बिना गुरु शिष्यका, पिता पुत्रका सुधार कैसे करेगा?

उत्तर—दूसरेको निर्दोष बनानेकी नीयतसे बुराई देखना दोष नहीं है। दोष है—बुराई देखकर राजी होना। गुरु शिष्यकी और पिता पुत्रकी बुराई देखकर राजी नहीं होता, प्रत्युत दुःखी होता है और उसको निर्दोष देखना चाहता है॥ ११६॥

धर्म

प्रश्न—धर्मका मूल क्या है?

उत्तर—स्वार्थका त्याग तथा दूसरोंका हित॥ ११७॥

प्रश्न—धर्मका प्रचार कैसे करें?

उत्तर—धर्मके अनुसार खुद चलें—इसके समान धर्मका प्रचार कोई नहीं है॥ ११८॥

प्रश्न—विजय धर्मकी ही होती है, पर आजकल कहीं-कहीं अधर्मकी विजय और धर्मकी हार होती हुई क्यों दीखती है?

उत्तर—जब मनुष्य सुखासक्तिके कारण असत्‌को महत्त्व देता है, तब हार होती है। वास्तवमें हार होती नहीं, पर दीखता ऐसा है कि हार हो गयी!॥ ११९॥

नामजप

प्रश्न—पाप तो बहुत पुराने हैं और नामजप अभी करते हैं। नये नामजपसे पुराने पाप कैसे कटते हैं?

उत्तर—इसमें यह बलाबल नहीं देखा जाता कि नया है या पुराना, कम है या ज्यादा। नया पुरानेके लिये ही होता है। गुफामें सैकड़ों वर्षोंका अँधेरा प्रकाश करते ही तत्काल दूर हो जाता है। मनोंभर रूई एक दियासलाईसे जल जाती है। जिस वस्तुका आजतक परिचय (ज्ञान) नहीं हुआ, उससे तुरन्त परिचय हो जाता है॥ १२०॥

प्रश्न—क्या चौबीस घण्टे लगातार नामजप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं?

उत्तर—नामजप करते-करते दर्शनकी लगन लग जाय तो दर्शन हो सकते हैं। वास्तवमें लगनसे दर्शन होते हैं, क्रियासे नहीं। लगन होती है संसारसे विमुख होनेसे॥ १२१॥

प्रश्न—कितना जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं?

उत्तर—कलिसन्तरणोपनिषद्‌में आया है कि 'हरे राम०' का साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भगवान्‌के दर्शन हो जाते हैं। परन्तु यह नियम नहीं है। साढ़े तीन करोड़से भी अधिक जप करनेवाले व्यक्ति हमें मिले हैं, पर उनको भगवान्‌के दर्शन नहीं हुए। कारण यह है कि भगवान्‌का दर्शन होनेमें क्रियाकी प्रधानता नहीं है, प्रत्युत भावकी, प्रेमकी, लगनकी प्रधानता है। अतः प्रेम कम हो तो साढ़े तीन करोड़ जप करनेसे भी दर्शन नहीं होते और प्रेम अधिक हो तो इससे कम जप करनेसे भी दर्शन हो जाते हैं। संख्या इसलिये बतायी जाती है कि आलस्य-प्रमाद न हो।

यदि उद्देश्य तेज हो और अपने बलका सहारा न हो तो एक नामसे ही भगवत्प्राप्ति हो सकती है— ***'निरबल ह्वै बलराम पुकारयो आये आधे नाम'।*** संख्या (क्रिया)-की तरफ वृत्ति रहनेसे निर्जीव-(निष्प्राण) जप

होता है और भगवान्‌की तरफ वृत्ति रहनेसे सजीव-(सप्राण) जप होता है। अतः नामीमें प्रेम होना चाहिये और 'हमारे प्यारेका नाम है'—इसको लेकर नाम-जप करना चाहिये॥ १२२॥

प्रश्न—भगवान्‌के नाम अनन्त हैं तो क्या अन्तसमयमें किसी भी नामसे कल्याण हो जायगा?

उत्तर—वृत्ति भगवान्‌में होगी तो कल्याण होगा। यह नाम भगवान्‌का है—ऐसी वृत्ति होनी चाहिये। नाममें भी कल्याण करनेकी शक्ति है, पर उसमें हमारी वृत्ति कारण है; जैसे-सरदी लगनेपर गरम कपड़ा ओढ़ते हैं तो हमारे शरीरकी गरमी ही कपड़ेमें आती है और हमारी ठण्डी दूर करती है। अन्तकालमें भगवन्नाम इसलिये सुनाते हैं कि उसमें भगवान्‌में वृत्ति करानेकी शक्ति है॥ १२३॥

प्रश्न—मरनेवाला तो संसारका चिन्तन कर रहा है, पर दूसरा व्यक्ति उसको भगवन्नाम सुना रहा है तो क्या उसका कल्याण हो जायगा?

उत्तर—भगवान्‌ने मनुष्यको अन्तकालमें विशेष छूट दी है। अतः अन्तकालमें भगवन्नाम सुनानेसे वहाँ यमदूत नहीं आयेंगे। दूसरी बात, नाम सुनानेवालेका उद्देश्य कल्याण करनेका है तो नाम सुनानेसे उसका कल्याण हो जायगा। तीसरी बात, नाम सुननेसे मरनेवाले व्यक्तिको अन्तकालमें भगवान्‌की याद आ जायगी तो उसका कल्याण हो जायगा॥ १२४॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर कीर्तनकी टेप लगा दे तो?

उत्तर—उसमें भी टेप लगानेवालेका उद्देश्य काम करेगा॥ १२५॥

प्रश्न—कोई भगवन्नाम न सुनाकर मनसे नामजप करे तो?

उत्तर—उसका उद्देश्य काम करेगा॥ १२६॥

परहित

प्रश्न—परहितका भाव होनेमें बाधा क्या है?

उत्तर—व्यक्तिगत स्वार्थ ही बाधक है। वास्तवमें व्यक्तिगत स्वार्थका भाव रखनेसे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, पर सबके हितका भाव रखनेसे (व्यक्तिगत स्वार्थ छोड़नेसे) व्यक्तिगत स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है! सबके हितका भाव रखनेवालेकी सेवा पशु भी करते हैं॥ १२७॥

प्रश्न—भजन-ध्यान आदि साधन सबके हितके लिये करने चाहिये—यह बात यदि सत्य है तो यह मानना पड़ेगा कि अभीतक किसीका साधन सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि अभीतक सबका हित नहीं हुआ?

उत्तर—इसमें सबके हितका तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत अपने स्वार्थके त्यागका तात्पर्य है। सबके हितकी बात तो दूर रही, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिका भी हित (कल्याण) नहीं कर सकता, पर अपने स्वार्थका त्याग कर सकता है। सबके हितका भाव साधन है, साध्य नहीं॥ १२८॥

प्रश्न—अपना हित न सोचकर दूसरेका हित क्यों सोचें?

उत्तर—हमारा हित हो—यह स्वार्थवृत्ति ही हमारे हितमें बाधक है। जितना दूसरेके हितके लिये करेंगे, उतना ही अपना स्वार्थ मिटेगा। जितना स्वार्थ मिटेगा, उतना हमारा हित होगा॥ १२९॥

प्रश्न—दु:खी व्यक्तिको देखकर दु:ख होगा तो उससे सम्बन्ध जुड़ जायगा, फिर बन्धन कैसे छूटेगा?

उत्तर—यह सम्बन्ध बाँधनेवाला नहीं है। दु:खीको देखकर दु:ख होता है तो इससे सिद्ध हुआ कि उसके अधिकारवाली कोई वस्तु हमारे पास है। वह वस्तु उसकी सेवामें लगा दो॥ १३०॥

पाप-पुण्य

प्रश्न—पाप-पुण्यरूप कर्मोंका संग्रह कहाँ होता है?

उत्तर—अन्तःकरणमें होता है। जैसे, बिजली कितनी खर्च हुई—इसका पता मीटरसे लग जाता है। कोई व्यक्ति कभी भी, किसी भी समय बिजली खर्च करे और कितना ही छिपकर बिजली खर्च करे, पर मीटरमें सब अंकित हो जाता है। ऐसे ही पाप-पुण्यको अंकित करनेवाला विलक्षण मीटर अन्तःकरणमें है॥ १३१॥

प्रश्न—क्या अपनी अथवा दूसरेकी रक्षाके लिये दुष्ट व्यक्तिको मारनेसे पाप लगता है?

उत्तर—यद्यपि यह कार्य क्षत्रियका है, तथापि जब देशमें अराजकता फैल जाय, राजा (शासक) हमारी पुकार न सुने, हम न्यायपूर्वक चलते हों तो भी हमपर अन्यायपूर्वक आक्रमण होते हों तो ऐसी स्थितिमें चारों वर्णोंका क्षात्रधर्म हो जाता है अर्थात् स्त्री, गाय, सम्पत्ति, प्राण आदिकी रक्षाके लिये चारों वर्ण शस्त्र धारण कर सकते हैं*। परन्तु उद्देश्य केवल अपनी तथा स्त्री आदिकी रक्षाका ही होना चाहिये, दूसरेको मारनेका नहीं। रक्षा करते हुए वह दुष्ट व्यक्ति मर भी जाय तो पाप नहीं लगता। उसके मरनेसे दुनियाका भी भला होगा और उसका भी भला होगा; क्योंकि वह और नये पाप करनेसे बच जायगा।

वास्तवमें हिंसा भावसे होती है, क्रियासे नहीं। डॉक्टर आपरेशन करते समय रोगीका अंग काट देता है, सैनिक सीमापर शत्रुको मार देता है तो यह हिंसा नहीं मानी जाती; क्योंकि डॉक्टर और सैनिकका

---

* गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानां वाऽपि सङ्करे।
गृह्णीयातां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया॥ (बोधायनस्मृति २।२।८०)

भाव लोगोंके हितका है॥ १३२॥

प्रश्न—क्या पुण्यकर्म करनेसे पाप कट जाते हैं?

उत्तर—पापकर्म 'फौजदारी' की तरह हैं और पुण्यकर्म 'दीवानी' की तरह हैं। दोनोंका विभाग अलग-अलग है। पापोंका और पुण्योंका अलग-अलग संग्रह होता है। इसलिये स्वाभाविक रूपसे ये दोनों एक-दूसरेसे कटते नहीं अर्थात् पापोंसे पुण्य नहीं कटते और पुण्योंसे पाप नहीं कटते। परन्तु मनुष्य पाप काटनेके उद्देश्यसे प्रायश्चित्त-कर्म करे तो उससे पाप कट सकते हैं; जैसे—जुर्माना देकर मनुष्य कैदसे छूट सकता है॥ १३३॥

प्रश्न—जब पाप-पुण्य एक-दूसरेसे नहीं कटते तो फिर ऋषियोंकी तपस्या कैसे भंग हुई?

उत्तर—तपस्या भंग नहीं होती, प्रत्युत उसमें बाधा लग जाती है। जितनी तपस्या हो गयी, वह नष्ट नहीं होती। खुद विचलित होनेसे ही तपस्यामें बाधा लगती है। खुद विचलित न हो तो उसको कोई विचलित नहीं कर सकता—*'कामी बचन सती मनु जैसें'* (मानस, बाल० २५१। १)॥ १३४॥

प्रश्न—वर्तमानमें उग्र पाप और उग्र पुण्यका फल तत्काल देखनेमें नहीं आता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—इसमें कलियुग कारण है; क्योंकि कलियुग अधर्मका मित्र है—**'कलिनाधर्ममित्रेण'** (पद्मपुराण, उत्तर० १९३। ३१)। हाँ, जमा होते-होते बादमें इसका भयंकर फल अवश्य मिलता है; जैसे—फोड़ा धीरे-धीरे बढ़ता है और पककर फूटता है!॥ १३५॥

प्रश्न—कुछ व्यक्तियोंके किये पापका फल पूरे समाजको क्यों भोगना पड़ता है?

उत्तर—सृष्टि एक इकाई है। अतः व्यक्तिके पाप या पुण्यका प्रभाव सृष्टिमात्रपर पड़ता है। परन्तु उसके फलभोगमें अन्तर रहेगा ही अर्थात्

पापात्मापर जैसी आफत आयेगी, वैसी आफत पुण्यात्मापर नहीं आयेगी। पुण्यात्मा पुरुष भी पहले किये अपने पापका ही फल भोगते हैं। कभी आफत आनेपर वे बच भी जाते हैं; जैसे—दुर्घटना होनेपर एक ही गाड़ीमें बैठे आदमियोंमेंसे कोई मर जाता है, कोई बच जाता है॥ १३६॥

प्रार्थना

प्रश्न—प्रार्थनामें खास बात क्या है?

उत्तर—अपनी निर्बलताका और भगवान्‌की सबलता (प्रभाव, सामर्थ्य)-का अनुभव करना॥ १३७॥

प्रश्न—क्या प्रार्थना किये बिना भगवान् रक्षा नहीं करते?

उत्तर—रक्षा और पालन करनेकी शक्तिका नाम ही परमात्मा है। इसलिये वे तो बिना प्रार्थना किये भी सबकी रक्षा करते रहते हैं। परन्तु जैसे भगवान्‌की कृपा सबपर होती है, पर जो उस कृपाको स्वीकार करता है, उसपर वह कृपा ज्यादा फलीभूत होती है, ऐसे ही जो (द्रौपदी, गजराज आदिकी तरह) आर्तभावसे रक्षाके लिये प्रार्थना करता है, उसपर भगवत्कृपा ज्यादा फलीभूत होती है॥ १३८॥

प्रश्न—कभी-कभी प्रार्थना करनेपर भी भगवान् कष्टसे रक्षा नहीं करते, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—आर्तभावमें कमी रहनेसे प्रार्थना सफल नहीं होती। इसलिये प्रार्थना आर्तभावसे और निर्बल होकर करनी चाहिये—*'निरबल ह्वै बलराम पुकार्‌यो आये आधे नाम'*॥ १३९॥

प्रश्न—प्रार्थना करनेपर भी रक्षा न होनेपर कई मनुष्योंमें नास्तिकता आ जाती है, ऐसा क्यों?

उत्तर—भीतरमें पहलेसे नास्तिकता होती है, तभी आती है! नास्तिक वही बनता है, जो पहलेसे नास्तिक होता है। जो आस्तिक होता है, वह प्रतिकूल-से-प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी आस्तिक ही

रहता है, कभी नास्तिक नहीं होता। भगवान् कितनी ही विरुद्ध परिस्थिति भेजें तो भी भक्तमें नास्तिकता नहीं आती; क्योंकि वह प्रत्येक परिस्थितिमें भगवान्‌की कृपाको ही देखता है॥ १४०॥

प्रश्न—क्या दूसरेका दुःख दूर करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर सकते हैं?

उत्तर—कर सकते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। केवल एक दोष आता है कि क्या हम ज्यादा दयालु हैं? भगवान्‌में दया नहीं है क्या?॥ १४१॥

प्राण

प्रश्न—प्राणशक्ति और चेतनाशक्ति क्या है?

उत्तर—प्राणशक्ति क्रियात्मक होनेसे 'राजसी' है और चेतनाशक्ति विवेकात्मक होनेसे 'सात्त्विकी' है। शरीरका हिलना-डुलना प्राणशक्तिसे होता है। छिपकलीकी पूँछ कटनेपर भी प्राणशक्तिके कारण हिलती रहती है और प्राणशक्ति धीरे-धीरे समष्टि प्राणमें लीन हो जाती है। चेतनाशक्ति अन्त:करणकी वृत्ति है। एक आदमी सोया हुआ है और एक आदमी मरा हुआ है। प्राणशक्ति काम न करनेसे दोनोंके शरीर अचल हैं। परन्तु दोनोंका चेहरा देखें तो उसमें अन्तर दीखता है। यह अन्तर सोये हुए आदमीमें चेतनाशक्ति होनेके कारण दीखता है॥ १४२॥

प्रश्न—मरनेपर प्राण (सूक्ष्मशरीर) निकल जाता है, फिर छिपकलीकी कटी पूँछ क्यों हिलती रहती है?

उत्तर—उसमें प्राण रहता है, तभी वह हिलती है। प्राण धीरे-धीरे निकलते हैं। इसलिये किसीके मरनेके बाद भी उसका तुरन्त अग्नि-संस्कार न करके लगभग आधा घण्टातक भगवन्नाम-कीर्तन करते रहना चाहिये।

प्राण (वायु)-के बिना कोई क्रिया हो ही नहीं सकती। शरीरकी

सभी क्रियाएँ प्राणोंसे ही होती हैं। प्राणोंसे ही गमनागमन होता है। बल भी वायुका ही होता है। वायुपुत्र होनेके कारण ही हनुमान्‌जी और भीम बड़े बलवान् हैं। कोई भारी वस्तु उठाते हैं तो श्वास (वायु) रोककर ही उठाते हैं। श्वास लेते हुए भारी वस्तु नहीं उठा सकते॥ १४३॥

प्रारब्ध

प्रश्न—मनुष्यकी जन्म-कुण्डलीमें जो लिखा रहता है, वही होता है तो फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे हुआ?

उत्तर—एक 'करने' का विभाग है और एक 'होने' का। जन्म-कुण्डलीमें 'होने' की बात लिखी रहती है, 'करने' की नहीं। पारमार्थिक उन्नतिकी बात जन्म-कुण्डलीमें न होनेपर भी मनुष्य पारमार्थिक उन्नति कर सकता है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। अगर जन्म-कुण्डलीके अनुसार ही सब कार्य हों तो गुरु, शास्त्र, सत्संग, शिक्षा आदि सब व्यर्थ हो जायँगे!॥ १४४॥

प्रश्न—जन्म-कुण्डलीमें यह निर्देश रहता है कि बालक दुराचारी होगा या सदाचारी; अतः मनुष्य कर्मोंके अधीन हुआ?

उत्तर—जन्मके समय प्रारब्धके अनुसार जैसे ग्रह-नक्षत्र होते हैं, वैसे लिख दिया जाता है। परन्तु भविष्यमें मनुष्य जैसा चाहे, वैसा बननेमें स्वतन्त्र है।

ग्रह-नक्षत्र आदिकी एक सीमा होती है। मनुष्यके अन्तःकरणमें ग्रहोंके अनुसार समय-समयपर अच्छी या बुरी वृत्तियाँ तो पैदा हो सकती हैं, पर उनके अनुसार क्रिया करनेमें वह परवश नहीं है। वह चाहे तो अपने विवेकका उपयोग करके निषिद्ध क्रियाका त्याग कर सकता है। जैसे, हमें प्रारब्धके अनुसार धन मिलनेवाला है तो समयपर धन मिल जायगा, पर उस धनको ग्रहण करनेमें अथवा उसका त्याग करनेमें तथा सदुपयोग अथवा दुरुपयोग करनेमें हम स्वतन्त्र हैं॥ १४५॥

प्रश्न—भृगुसंहिता आदिसे मालूम हो जाता है कि यह मनुष्य अमुक-अमुक कार्य करेगा, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—ज्योतिषमें करनेकी बात उतनी ही आती है, जितनेसे फलभोग हो सके। जैसे, व्यापारमें नफा या नुकसान होनेवाला हो तो मनुष्यसे ऐसी क्रिया हो जायगी, जिससे फलका भोग (नफा या नुकसान) हो सके। सब क्रियाएँ जन्म-कुण्डली (प्रारब्ध)-के अनुसार हो ही नहीं सकतीं। केवल एक दिनमें ही मनुष्य इतनी क्रियाएँ करता है कि उनको लिखनेसे पुस्तक बन जाय!॥ १४६॥

प्रश्न—फल भुगतानेके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, उसका पता कैसे चले कि यह कर्म प्रारब्धसे है या क्रियमाणसे?

उत्तर—इसका निर्णय, विश्लेषण करना बड़ा कठिन है! हाँ, इस विषयमें यह बात समझनेकी है कि फलभोगके लिये प्रारब्ध जो कर्म करवाता है, वह शास्त्रनिषिद्ध नहीं होता। शास्त्रनिषिद्ध कर्म प्रारब्धसे नहीं होता, प्रत्युत कामनासे होता है—'**काम एष:**' (गीता ३। ३७) अत: प्रारब्धके अनुसार कर्म करनेकी वृत्ति तो हो जायगी, पर निषिद्ध आचरण नहीं होगा; क्योंकि फलभोगके लिये निषिद्ध आचरणकी जरूरत है ही नहीं। निषिद्ध आचरण तो नया कर्म होता है॥ १४७॥

प्रश्न—वाल्मीकिजीने पहले ही रामायण लिख दी, फिर उसके अनुसार ही सब क्रियाएँ हुईं, फिर मनुष्य स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—भगवान्‌की बात न्यारी है; क्योंकि वे कर्मोंके अधीन नहीं हैं। उनकी लीलामें सहायक अन्य पात्र (मन्थरा, कैकेयी आदि) भी विलक्षण होते हैं, साधारण नहीं। रामायणमें भी खास-खास बातें ही लिखी गयी थीं। भगवान् राम तथा अन्य पात्रोंके द्वारा प्रतिदिन अनेक क्रियाएँ होती थीं, पर वे सब क्रियाएँ रामायणमें कहाँ लिखी हैं?॥ १४८॥

प्रश्न—मनुष्यको जितनी आवश्यकता है, उतनी ही वस्तु मिलती

है या अधिक भी मिल सकती है?

उत्तर—सदा आवश्यकतासे अधिक ही वस्तु मिला करती है। मानव-जीवनका समय इतना अधिक मिला है कि मनुष्य कई बार अपना कल्याण कर ले!* वीर्यमें लाखों शुक्राणु रहते हैं, पर जीव एक ही शुक्राणुसे बनता है। संसारमें भी देखते हैं कि मोटरमें चार-पाँच आदमियोंके बैठनेकी जगह बनायी जाती है, पर आठ-नौ आदमी भी बैठ जाते हैं। आवश्यकताके अनुसार वस्तु तो काममें आ जाती है, पर आवश्यकतासे अधिक वस्तुका संग्रह ही होता है॥ १४९॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि पिताके किये कर्मका फल पुत्र-पौत्रोंको भी भोगना पड़ता है। ऐसा देखा भी जाता है कि पिताको कोई रोग हो तो वह पुत्र-पौत्रोंको भी हो जाता है। ऐसा क्यों?

उत्तर—जैसे रेडियो-स्टेशनसे ध्वनिका प्रसारण किया जाता है और रेडियोकी सुई घुमानेसे वही नम्बर मिल जाता है अर्थात् उससे सजातीय-सम्बन्ध हो जाता है तो वह ध्वनि पकड़ी जाती है। ऐसे ही जीव उसीके यहाँ जन्म लेता है, जिसके साथ उसका कोई कर्म-सम्बन्ध (ऋणानुबन्ध) होता है। अतः पुत्र-पौत्र एक प्रकारसे अपने ही कर्मोंका भोग करते हैं अर्थात् उनको वंश-परम्परासे वही रोग मिलता है, जिसका भोग उनके प्रारब्धमें है॥ १५०॥

प्रश्न—जब धन प्रारब्धके अनुसार ही मिलेगा तो फिर उद्योग क्यों करें?

उत्तर—उद्योग करना हमारा कर्तव्य है—ऐसा मानकर करना चाहिये। मनुष्यको अपने कर्तव्यका पालन करना चाहिये। भगवान्‌की आज्ञा भी है—'**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**' (गीता २। ४७) 'कर्तव्य-कर्म करनेमें ही तेरा अधिकार है, फलोंमें कभी नहीं।' अगर

* वास्तवमें कल्याण, मुक्ति, तत्त्वज्ञान, भगवत्प्राप्ति एक ही बार होती है और सदाके लिये होती है—'यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्' (गीता ४। ३५)।

मनुष्य कर्तव्य-कर्म नहीं करेगा तो उसको दण्ड होगा। कर्तव्य-कर्म करनेसे तत्काल शान्ति मिलती है और न करनेसे तत्काल अशान्ति॥ १५१॥

प्रश्न—धन तो प्रारब्धके अनुसार मिलेगा, पर उसको खर्च करना नया कर्म है या प्रारब्ध?

उत्तर—धनको खर्च करना, कंजूस होना अथवा उदार होना नया कर्म है, प्रारब्ध नहीं॥ १५२॥

प्रश्न—जब प्रारब्धके अनुसार दुःख भोगना ही पड़ता है तो फिर औषध, दान, मन्त्र, अनुष्ठान आदिका क्या उपयोग हुआ?

उत्तर—जैसे किसी व्यक्तिको कैद होती है तो वह जुर्माना (रुपये) देकर कैदकी अवधि कम करा सकता है अथवा कैदसे छूट भी सकता है, ऐसे ही मनुष्य औषध, मन्त्र आदि उपाय करके प्रारब्धके भोगको क्षीण कर सकता है॥ १५३॥

प्रश्न—क्या भगवत्कृपासे प्रारब्धका नाश हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। इसलिये आर्तभावसे प्रार्थना करनेपर परिस्थिति बदल जाती है, कष्ट दूर हो जाता है॥ १५४॥

प्रश्न—भोजन किया तो भूख मिटना फल हुआ। फिर शौच गये तो यह 'कर्मका फल भी कर्म' हुआ। अतः मनुष्य जो कुछ करता है, प्रारब्धके अनुसार ही करता है। पुरुषार्थसे कुछ नहीं होता, सब प्रारब्धसे ही होता है। क्या यह ठीक है?

उत्तर—कर्मका फल कभी कर्म होता ही नहीं, प्रत्युत भोग होता है। शौच जाना कर्म नहीं है; क्योंकि इसमें कर्तृत्व नहीं है। क्रियमाण-कर्मके फल-अंशके दो भेद होते हैं—दृष्ट और अदृष्ट। इनमें दृष्टके भी दो भेद होते हैं—तात्कालिक और कालान्तरिक। भोजन करते समय तृप्ति होना 'तात्कालिक फल' है और परिणाममें शौच होना 'कालान्तरिक फल' है।

प्रारब्धका फल भोग है, कर्म नहीं। अगर कर्मका फल भी कर्म होगा तो कर्मोंका अन्त कभी आयेगा ही नहीं, कर्म-बन्धनसे मुक्ति होगी ही नहीं, जो 'अनवस्था दोष' है। पुरुषार्थसे प्रारब्ध बनता है, पर प्रारब्धसे पुरुषार्थ नहीं बनता। यदि सब कर्म प्रारब्धसे होंगे तो फिर प्रारब्ध कहाँसे होगा? प्रारब्ध क्रियमाण-कर्मका अंश है, फिर वह क्रियमाण कर्म कैसे करायेगा? जो प्रारब्धके अनुसार ही सब कर्म मानते हैं, उनके लिये एक ही प्रश्न पर्याप्त है कि 'त्याग' क्या काम आयेगा, कहाँ काम आयेगा?

पुरुषार्थ छोड़नेसे जो काम होता है, वह भगवान्‌की कृपासे होता है। उसको प्रारब्ध मानना भूल है। अपना पुरुषार्थ सर्वथा छोड़ना शरणागति है। शरणागतका काम भगवान्‌की कृपासे होता है॥ १५५॥

प्रश्न—त्याग करनेसे जो वस्तु प्रारब्धमें नहीं है, वह कैसे मिल जाती है?

उत्तर—रागका त्याग करनेसे किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। किसी भी वस्तुके साथ सम्बन्ध न रहनेसे सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। सब वस्तुओंके साथ सम्बन्ध होनेसे आवश्यक वस्तुएँ स्वत: मिलती हैं। पुण्यकर्मसे जो प्रारब्ध बनता है, उससे भी बढ़िया प्रारब्ध त्यागसे बनता है॥ १५६॥

प्रश्न—एक साथ सैकड़ों मनुष्य मर जाते हैं तो सबका प्रारब्ध एक साथ कैसे?

उत्तर—जिन्होंने एक साथ पाप किया है, वे एक साथ ही मरते हैं। जैसे, लोकसभामें गौहत्या आदिका प्रस्ताव पास हुआ तो वे किसी जन्ममें मरेंगे तो एक साथ ही मरेंगे। जितनी अधिक सम्मति होगी, उतना अधिक कष्ट होगा। थोड़ी सम्मतिवाले घायल हो जायँगे॥ १५७॥

प्रश्न—भगवान्‌की मरजीके बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता, फिर मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र कैसे?

उत्तर—'होने' का विभाग अलग है और 'करने' का विभाग अलग है। भगवान्‌की मरजीके बिना पत्ता हिलता नहीं, पर हिला सकते हैं! हिलता नहीं—यह कहा है, हिलाता नहीं—यह नहीं कहा है। हम व्यापार, खेती आदि 'करते' हैं और नफा-नुकसान आदि 'होता' है। तात्पर्य है कि 'करना' हमारे हाथमें है और 'होना' भगवान्‌के अथवा प्रारब्धके हाथमें है॥ १५८॥

प्रेम

प्रश्न—जीवका तो भगवान्‌में आकर्षण (प्रेम) है, पर भगवान्‌का जीवमें आकर्षण कैसे है?

उत्तर—आकर्षण तो भगवान् और जीव—दोनोंमें है, पर भूल जीवमें है, भगवान्‌में नहीं। जैसे बच्चेको माँका प्रेम नहीं दीखता, ऐसे ही संसारमें आकर्षण होनेके कारण मनुष्यको भगवान्‌का प्रेम (आकर्षण) नहीं दीखता। यदि भगवान्‌का प्रेम दीखे (पहचानमें आये) तो उसका संसारमें आकर्षण हो ही नहीं।

भगवान् कहते हैं—*'सब मम प्रिय सब मम उपजाए'* (मानस, उत्तर० ८६। २)। भगवान्‌का प्रेम ही जीवको खींचता है, जिससे कोई भी परिस्थिति निरन्तर नहीं रहती॥ १५९॥

प्रश्न—क्या परम प्रेमकी प्राप्तिसे पहले मुक्त होना आवश्यक है?

उत्तर—ज्ञानमार्गमें मुक्तिके बाद प्रेम प्राप्त होता है और भक्तिमार्गमें प्रेम-प्राप्तिके बाद मुक्ति होती है।

प्रेम तो जीवमात्रमें पहलेसे ही विद्यमान है, पर संसारमें राग होनेके कारण वह प्रेम प्रकट नहीं होता। सत्संगसे जितना राग मिटता है, उतना ही प्रेम प्रकट होता है और जितना प्रेम प्रकट होता है, उतना ही राग मिटता है।

वास्तवमें प्रेमके अधिकारी मुक्त महापुरुष ही होते हैं। मुक्तिसे पहले

भी प्रेम हो सकता है, पर वह असली नहीं होता। हाँ, साधकके लिये वह बहुत सहायक होता है। असली प्रेम मुक्तिके बाद ही होता है। मुक्तिसे पहले 'मैं भगवान्‌का हूँ'—ऐसी मान्यता रहती है, पर मुक्तिके बाद मान्यता नहीं रहती, प्रत्युत अनुभव होता है॥ १६०॥

प्रश्न—भगवान्‌ने प्रेमलीलाके लिये स्त्री-पुरुष (राधा-कृष्ण) का रूप क्यों धारण किया? दो मित्रोंमें भी तो प्रेम हो सकता है!

उत्तर—संसारमें सबसे अधिक आकर्षण स्त्री-पुरुषके बीच ही होता है। इसलिये आकर्षण तो स्त्री-पुरुषकी तरह हो, पर अपनी सुखबुद्धि किंचिन्मात्र भी न हो—यह बात संसारी लोगोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने राधा-कृष्णका रूप धारण किया। जिसकी दृष्टिमें स्त्री-पुरुषका भेद हो, वह राधा-कृष्णकी प्रेम-लीलाको नहीं समझ सकता। इसको ठीक समझनेके लिये साधकको चाहिये कि वह स्त्री-पुरुषका भाव न रखे। अपनेमें सुखबुद्धि होनेके कारण इसको समझनेमें कठिनता पड़ती है। जिसके भीतर किंचिन्मात्र भी अपने सुखकी आसक्ति है, वह प्रेम-तत्त्वको नहीं समझ सकता। इसलिये जीवन्मुक्त ही इस भावको ठीक समझ सकता है॥ १६१॥

प्रश्न—क्या श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति जीवको प्राप्त हो सकती है?

उत्तर—हाँ, हो सकती है। कारण कि भगवान्‌ने श्रीजीको भी अपनेमेंसे प्रकट किया है और जीवोंको भी। अतः श्रीजी और जीवमें कोई अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जीवने मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग किया, पर श्रीजीने दुरुपयोग नहीं किया। अतः श्रीजीकी रागात्मिका भक्ति (प्रेम) सब जीवोंको प्राप्त हो सकती है॥ १६२॥

प्रश्न—प्रेममें एकसे दो होनेपर दोनों समान रहते हैं, फिर दास्यभाव (एक स्वामी, एक सेवक) कैसे होता है?

उत्तर—दास्य आदि कोई भी भाव हो, प्रेममें अपनी अलग सत्ता

नहीं है; क्योंकि प्रेममें एक होकर दो हुए हैं। इसलिये कभी सेवक स्वामी हो जाता है, कभी स्वामी सेवक हो जाता है। कभी राधा कृष्ण बन जाती हैं, कभी कृष्ण राधा बन जाते हैं। शंकरजीके लिये कहा भी है—*'सेवक स्वामि सखा सिय पी के'* (मानस, बाल० १५। २)! दक्षिणके एक मन्दिरमें शंकरजीने नन्दीको उठा रखा है! कभी नन्दी शंकरजीको उठाता है, कभी शंकरजी नन्दीको उठाते हैं! कभी भगवान् कृष्ण इष्ट हैं, कभी अर्जुन इष्ट हैं—**'इष्टोऽसि मे दृढमिति'** (गीता १८। ६४)। इसलिये प्रेमको प्रतिक्षण वर्धमान कहा है॥ १६३॥

प्रश्न—जब साधक भगवान्‌में अपनापन करता है, तब उसको प्रेम प्राप्त होता है, पर सिद्ध (जीवन्मुक्त) को प्रेम कैसे प्राप्त होता है?

उत्तर—साधकके लिये अपनापन है और मुक्तके लिये असन्तोष है। तात्पर्य है कि जब भगवान्‌की कृपा मुक्तिके रसको भी फीका कर देती है, तब उसको मुक्तिसे असन्तोष हो जाता है कि 'आप' (स्वयं) तो मिल गया, पर 'अपना' (स्वकीय) नहीं मिला! मुक्तिसे असन्तोष होनेपर उसको परम प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है॥ १६४॥

प्रश्न—भगवान् मीठे कैसे लगें?

उत्तर—भगवान् मीठे लगेंगे संसार खारा लगनेसे!॥ १६५॥

प्रश्न—मुक्तिमें तो सूक्ष्म अहंकार रहता है, पर प्रेममें वह नहीं रहता, इसका क्या कारण है?

उत्तर—कारण यह है कि जीव परमात्माका अंश है। अतः यह परमात्मासे ज्यों-ज्यों दूर जाता है, त्यों-त्यों अहंकार दृढ़ होता जाता है और ज्यों-ज्यों परमात्माकी तरफ जाता है, त्यों-त्यों अहंकार मिटता जाता है। इसलिये स्वरूपमें स्थित होनेपर भी सूक्ष्म अहंकार रहता है और प्रेममें भगवान्‌के साथ अभिन्न होनेपर अहंकार सर्वथा मिट जाता है॥ १६६॥

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेम कैसे बढ़े?

उत्तर—हम केवल भगवान्‌के ही अंश हैं; अतः वे ही अपने हैं। उनके सिवाय और कोई भी अपना नहीं है। इस प्रकार भगवान्‌में अपनापन होनेसे प्रेम स्वतः बढ़ेगा। इसके सिवाय भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये कि 'हे नाथ! आप मीठे लगो, प्यारे लगो!' भगवान्‌का गुणगान करनेसे, उनका चरित्र पढ़नेसे, उनके नामका कीर्तन करनेसे उनमें प्रेम हो जाता है। भगवान्‌के चरित्रसे भी भक्त-चरित्र पढ़नेका अधिक माहात्म्य है॥ १६७॥

प्रश्न—प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान कैसे होता है?

उत्तर—प्रेममें योग और वियोग, मिलन और विरह दोनों होते हैं। जब भक्तकी वृत्ति भगवान्‌की तरफ जाती है, तब 'नित्ययोग' होता है और जब अपनी तरफ जाती है, तब 'नित्यवियोग' होता है। भगवान्‌की तरफ वृत्ति जानेपर एक भगवान्‌के सिवाय कुछ नहीं दीखता और अपनी तरफ वृत्ति जानेपर स्वयं अलग दीखता है। 'भगवान् ही हैं'—यह नित्ययोग है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह नित्यवियोग है। नित्ययोगमें प्रेमका आस्वादन होता है और नित्यवियोगमें प्रेमकी वृद्धि होती है॥ १६८॥

प्रश्न—यदि हम निष्कामभावसे किसी व्यक्तिसे प्रेम करें तो उसका क्या परिणाम होगा?

उत्तर—कामनाके कारण ही संसार है। कामना न हो तो सब कुछ परमात्मा ही हैं, संसार है ही नहीं। निष्काम प्रेम होनेपर संसार नहीं रहेगा। कामना गयी तो संसार गया! इसलिये निष्कामभावसे किसीके साथ भी प्रेम करें तो वह भगवान्‌में ही हो जायगा॥ १६९॥

प्रश्न—भगवान्‌में प्रेमकी भूख क्यों है?

उत्तर—भगवान्‌में अपार प्रेम है, इसलिये उनमें प्रेमकी भूख है। जैसे, मनुष्यके पास जितना ज्यादा धन होता है, उतनी ही ज्यादा धनकी भूख होती है। भगवान्‌में प्रेमकी कमी नहीं है, पर भूख है॥ १७०॥

प्रश्न—प्रेमसे रोना और मोह (शोक) से रोना—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रेमके आँसू ठण्डे और मोहके आँसू गरम होते हैं। मोहके आँसू तो नेत्रोंके बीचसे निकलते हैं, पर प्रेमके आँसू नेत्रके भीतरी (नासिकाकी तरफ) कोनेसे निकलते हैं। अधिक प्रेम होनेपर आँसू पिचकारीकी तरह तेजीसे निकलते हैं॥ १७१॥
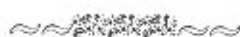
भक्त

प्रश्न—मनुष्य भक्त कब होता है?

उत्तर—अपनी निर्बलताका अनुभव और भगवान्‌के महान् प्रभावपर विश्वास होते ही मनुष्य भक्त हो जाता है। कारण कि निर्बलका बलवान्‌के साथ, भूखेका अन्नके साथ, प्यासेका जलके साथ, रोगीका वैद्यके साथ सम्बन्ध स्वतः हो जाता है।

भगवान् सर्वज्ञ, परम सुहृद् और सर्वसमर्थ हैं—यह भगवान्‌का प्रभाव है। अपनेमें कुछ बल, योग्यता, विशेषता देखनेसे और अपनी निर्बलताका दुःख न होनेसे अर्थात् उसको दूर करनेकी आवश्यकताका अनुभव न होनेसे भगवान्‌के प्रभावपर विश्वास नहीं होता॥ १७२॥

प्रश्न—क्या प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती है?

उत्तर—प्रेमी भक्तको ज्ञानकी आवश्यकता रहती ही नहीं; क्योंकि प्रेममें कोरा ज्ञान-ही-ज्ञान है! एक प्रेमास्पद (परमात्मा) के सिवाय और कुछ है ही नहीं—यही वास्तविक ज्ञान है॥ १७३॥

प्रश्न—एक ही भगवान् प्रतिक्षण वर्धमान प्रेमकी लीलाके लिये कृष्ण और श्रीजी (राधा)—दो रूपोंमें होते हैं, फिर अन्य प्रेमी भक्तोंका क्या होता है?

उत्तर—अन्य प्रेमी भक्त श्रीजीमें लीन हो जाते हैं॥ १७४॥

प्रश्न—भगवान् अपने भक्तोंके ऋणको कैसे माफ करते हैं?

उत्तर—शरणागत भक्तका अपना कुछ है ही नहीं। जो कुछ है, वह भगवान्‌का है। अतः भक्तोंका ऋण भगवान्‌पर आ जाता है। जैसे, कोई व्यक्ति मर जाय तो उसकी सम्पत्ति सरकारके अधीन हो जाती है।

संसारमें कुछ भी अपना माननेसे ही ऋण होता है। जो कुछ भी अपना नहीं मानता और कुछ भी नहीं चाहता, उसपर ऋण कैसे?॥ १७५॥

प्रश्न—भक्त अपना सुख न चाहकर भगवान्‌को सुख देता है, कैसे?

उत्तर—भक्त भगवान्‌के '**एकाकी न रमते**'—इस अभावकी पूर्ति करता है। कारण कि भगवान्‌ने संसारको भक्तके लिये बनाया है और भक्तको अपने लिये बनाया है। इसलिये भक्तका अस्तित्व केवल भगवान्‌के सुखके लिये है। वास्तवमें सुखके भोक्ता भगवान् ही हैं, जीव नहीं। जैसे बच्चा माँके लिये होता है, ऐसे ही भक्त भगवान्‌के लिये है। भगवान्‌के सिवाय भक्तका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है॥ १७६॥

प्रश्न—क्या भक्त संसारमात्रका कल्याण कर सकता है? यदि कर सकता है तो फिर करता क्यों नहीं?

उत्तर—भक्त यदि चाहे तो संसारमात्रका कल्याण कर सकता है। परन्तु दूसरेके कल्याणकी सामर्थ्य होते हुए भी उसमें सामर्थ्यका अभिमान नहीं होता। उसको शर्म आती है कि भगवान्‌के रहते हुए मैं क्या कल्याण करूँ! उसके भीतर यह भाव ही नहीं होता कि मैं कल्याण कर सकता हूँ। उसकी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**', फिर वह किसका कल्याण करे?॥ १७७॥

प्रश्न—श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने कहा है कि मैं भक्तोंके पीछे यह सोचकर घूमता हूँ कि उनकी चरण-रज मेरे ऊपर पड़ जाय और मैं पवित्र हो जाऊँ* तो यह पवित्र होना क्या है?

---

* निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्।
अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिः॥ (श्रीमद्भा० ११। १४। १६)

उत्तर—पापी-पुण्यात्मा, पवित्र-अपवित्र सब कुछ भगवान्‌के अन्तर्गत ही है। सम्पूर्ण पापी भगवान्‌में ही हैं, इसलिये उनकी अपवित्रता भगवान्‌की ही अपवित्रता है और उनकी शुद्धि भगवान्‌की ही शुद्धि है। तात्पर्य है कि भक्तोंकी चरण-रजसे (भगवान्‌के अन्तर्गत रहनेवाले) पापी भी पवित्र हो जाते हैं॥ १७८॥

प्रश्न—भक्तके साधन और साध्य—दोनों भगवान् होते हैं, तो साधन भगवान् कैसे?

उत्तर—उसके द्वारा जो साधन होता है, उसमें वह भगवान्‌की कृपाको ही हेतु मानता है। उसके साधनमें भी भगवान्‌का ही आश्रय रहता है। वह साधननिष्ठ न होकर भगवन्निष्ठ होता है॥ १७९॥

प्रश्न—भक्त और भगवान्‌के चरित्रमें क्या फर्क है?

उत्तर—दोनोंका चरित्र एक ही है। फर्क इतना है कि भक्तमें पहले जड़ता थी, पर भगवान्‌में कभी जड़ता आयी ही नहीं। दोनोंका चरित्र सुननेसे कल्याण हो जाता है। भगवान्‌का चरित्र सुननेके भक्त अधिकारी हैं और भक्तका चरित्र सुननेके भगवान् अधिकारी हैं॥ १८०॥

प्रश्न—भक्त-चरित्रमें आयी कुछ घटनाओंकी सत्यतामें सन्देह हो जाय तो क्या करना चाहिये?

उत्तर—सन्देह होनेपर यह विचार करे कि घटना भले ही झूठी हो, पर ऐसी घटना हो तो सकती है, सिद्धान्तसे यह ठीक तो है। हमें तो सिद्धान्तसे मतलब है, घटना चाहे हो या न हो। यदि कोई घटना असम्भव दीखे तो उसको छोड़ दे॥ १८१॥

प्रश्न—भक्त अपनेको भगवान्‌का मानता है तो शरीरसहित अपनेको मानता है या शरीररहित?

उत्तर—स्वयंको भगवान्‌का माननेसे शरीर भी साथमें हो जाता है। परन्तु शरीरको मुख्य माननेसे स्वयं साथमें नहीं होगा; क्योंकि स्वतन्त्र सत्ता स्वयंकी है, शरीरकी नहीं। भक्तिमें सत्‌के साथ असत् भी हो

जाता है, पर सांसारिक भोग भोगनेमें असत्‌के साथ सत् भी हो जाता है अर्थात् भोक्ता, भोग और भोग्य—तीनों ही असत् हो जाते हैं॥ १८२॥

प्रश्न—भगवान्‌के प्रति भक्तका भाव कैसा होता है?

उत्तर—उसका भगवान्‌के प्रति अनन्यभाव होता है। उसका खिंचाव केवल भगवान्‌की तरफ ही होता है। भगवान्‌के सिवाय वह कुछ भी अपना नहीं मानता। उसका एकमात्र भगवान्‌में ही गाढ़ अपनापन होता है। उसका भाव भगवान्‌को सुख पहुँचानेका होता है—'**तत्सुखसुखित्वम्**'। भगवान्‌के सुखके लिये वह अपने सुखका त्याग कर देता है। भगवान् कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—यह विवेक न लगाकर वह अपनी दृष्टिसे यही चेष्टा करता है कि किसी तरह भगवान्‌को सुख मिले॥ १८३॥

प्रश्न—भक्त क्या जानता है और क्या मानता है?

उत्तर—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें केश-जितनी वस्तु भी हमारी नहीं है—यह भक्त 'जानता' है और केवल प्रभु ही हमारे हैं—यह भक्त 'मानता' है॥ १८४॥

भक्ति

प्रश्न—भक्ति कैसे प्राप्त होती है?

उत्तर—भगवान्‌के भक्तोंका संग करनेसे, उनके द्वारा भगवान्‌की महिमा सुननेसे, भक्तोंका चरित्र पढ़नेसे और भगवान्‌से प्रार्थना करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। भगवान् और उनके भक्तोंकी विशेष कृपासे भी भक्ति प्राप्त होती है—

मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा।

(नारदभक्ति० ३८)

'भक्ति मुख्यरूपसे भगवत्प्रेमी महापुरुषोंकी कृपासे अथवा भगवत्कृपाके लेशमात्रसे प्राप्त होती है।'

भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होइँ अनुकूला॥

(मानस, अरण्य० १६। २)॥ १८५॥

प्रश्न—भक्ति और भक्तियोगमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सकामभाव होनेपर 'भक्ति' होती है और निष्कामभाव होनेपर 'भक्तियोग' होता है। 'योग' निष्कामभाव होनेपर ही होता है। केवल 'कर्म' और केवल 'ज्ञान' से लाभ नहीं होता, पर केवल 'भक्ति' से लाभ होता है; क्योंकि भक्तिमें भगवान्‌का सम्बन्ध रहता है। इसलिये भगवान्‌ने सकामभाववाले (आर्त और अर्थार्थी) भक्तोंको भी उदार कहा है—**'उदाराः सर्व एवैते'** (गीता ७। १८)॥ १८६॥

प्रश्न—भक्ति और शरणागतिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—भक्ति व्यापक है और शरणागति उसके अन्तर्गत है। जहाँ नवधा भक्तिका वर्णन आया है, वहाँ आत्मनिवेदन (शरणागति) को उसका एक अंग बताया है; जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)॥ १८७॥

प्रश्न—भक्ति सभी साधनोंके अन्तमें तो है, पर आरम्भमें कैसे है?

उत्तर—मनुष्यका जब सांसारिक आकर्षण छूटता है और परमात्मामें आकर्षण होता है, तभी वह साधनमें लगता है। परमात्मामें आकर्षण हुए बिना साधन होगा ही कैसे? यह आकर्षण ही भक्ति है। अतः भक्ति सभी साधनोंके आरम्भमें पारमार्थिक आकर्षणके रूपसे रहती है॥ १८८॥

प्रश्न—रामायणमें काकभुशुण्डिजी भक्तिको सर्वोपरि मानते हैं और योगवासिष्ठमें वे ज्ञानको सर्वोपरि मानते हैं, हम किसको ठीक मानें?

उत्तर—गहरा विचार करें तो तत्त्व एक ही है। संसारसे सम्बन्ध-

विच्छेद (मुक्ति) करनेमें ज्ञान और भक्ति—दोनोंमें कोई फर्क नहीं है, केवल दृष्टिकोण (साधन-दृष्टि) का फर्क है—

भगतिहि ग्यानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

(मानस, उत्तर० ११५। ७)

प्रेमके बिना ज्ञान शून्यतामें चला जाता है और ज्ञानके बिना प्रेम आसक्तिमें चला जाता है। ज्ञानकी अपेक्षा भक्ति सुगम भी है और श्रेष्ठ भी। भगवान्‌की कृपाका आश्रय होनेसे यह सुगम है और प्रेम होनेसे श्रेष्ठ है॥ १८९॥

प्रश्न—मुक्ति होनेके बाद जो दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव होते हैं, वे किस आधारपर होते हैं?

उत्तर—पहलेके (साधनावस्थाके) संस्कारको लेकर होते हैं॥ १९०॥

प्रश्न—भगवान् विरह क्यों देते हैं?

उत्तर—भगवान् विरह इसलिये देते हैं कि भक्त अपनेमें प्रेमकी कमी अनुभव करे और कमी अनुभव करनेसे प्रेम बढ़े; क्योंकि विरहके बिना प्रेम प्रतिक्षण वर्धमान नहीं होता। भगवान् भक्तको उस आनन्दका अनुभव कराना चाहते हैं, जो उनके भीतर है॥ १९१॥

प्रश्न—शरीर चिन्मय कैसे होता है? जैसे—मीराबाईका शरीर चिन्मय होकर भगवान्‌के श्रीविग्रहमें लीन हो गया?

उत्तर—जब भगवान्‌के प्रति भक्तकी आत्मीयता अधिक प्रगाढ़ हो जाती है, तब उसका शरीर भी चिन्मय हो जाता है। उसके भीतरका भाव इतना दृढ़ हो जाता है कि वह मन-बुद्धि-शरीरमें उतर आता है। शरीर चिन्मय होनेपर वह भगवान्‌के अवतारी शरीरकी तरह हो जाता है। उसमें कोई रोग नहीं आता॥ १९२॥

प्रश्न—शरीरनिर्वाहके लिये तो संसारपर निर्भर होना ही पड़ता है, फिर भगवान्‌पर पूर्ण निर्भरता कैसे हो?

उत्तर—जैसे बालक खिलौनोंसे खेलता है, पर उसकी निर्भरता

माँपर ही होती है, ऐसे ही व्यवहारमें अन्यकी निर्भरता होनेपर भी अपनी पूर्ण निर्भरता भगवान्‌पर ही होनी चाहिये। वास्तवमें शरीरका निर्वाह संसारपर निर्भर होनेसे नहीं होता, प्रत्युत प्रारब्धके अनुसार होता है॥ १९३॥
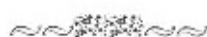
भगवान्

प्रश्न—भगवान्‌की आवश्यकता क्यों है?

उत्तर—अपनेमें कमी मानते हैं, इसलिये है। हमें कोई ऐसा साथी चाहिये, जो हमसे प्रेम करे, हमें आश्रय दे और कभी हमसे बिछुड़े नहीं, सदा साथ रहे। ऐसा साथी ईश्वर ही हो सकता है। तात्पर्य है कि हमें प्रेमके लिये ईश्वरकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताकी पूर्ति न स्वयंसे हो सकती है, न संसारसे। इसकी पूर्ति ईश्वरसे ही हो सकती है॥ १९४॥

प्रश्न—ईश्वरकी आवश्यकता कैसे जाग्रत् हो?

उत्तर—प्रेमका उद्देश्य होनेसे और संसारकी ममता-आसक्ति छूटनेसे ईश्वरकी आवश्यकता जाग्रत् होगी॥ १९५॥

प्रश्न—शास्त्र और सन्त परमात्माका अलग-अलग वर्णन करते हैं। कोई क्या कहता है, कोई क्या, फिर किसकी बात मानें?

उत्तर—परमात्मा क्या हैं—इसको कोई नहीं जानता। वे सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सब कुछ हैं। उनके विषयमें जो कुछ कहा गया है, वह अपनी समझके लिये है और प्रक्रिया-भेदसे है।

अभीतक परमात्माका जितना वर्णन हुआ है, वह सब-का-सब मिलकर भी परमात्माका पूरा वर्णन नहीं है। यदि पूरा वर्णन हो जाय तो परमात्मा असीम नहीं रहेंगे, सीमित हो जायँगे! सभी लोग अपने-अपने मत एवं सम्प्रदायके अनुसार परमात्माका वर्णन करते हैं।

परमात्माका दया भरा कानून भी है कि उनके किसी भी अंग (नाम, रूप, गुण, लीला, धाम) को पकड़नेसे उनकी प्राप्ति हो जाती है।

साधकको केवल इतनी ही बात मान लेनी चाहिये कि 'परमात्मा हैं'। वे कैसे हैं? किस रूपवाले हैं? कहाँ रहते हैं? क्या करते हैं? आदि बातोंपर साधक बुद्धि लगायेगा तो झगड़ा पैदा होगा, एक नयी आफत पैदा होगी। परन्तु 'परमात्मा हैं' ऐसा मान लेनेसे सबके साथ समन्वय हो जायगा। प्रह्लादजीने नरसिंहरूपका चिन्तन-ध्यान नहीं किया था, उनको इष्ट नहीं माना था। उन्होंने दृढ़तासे यही मान लिया था कि 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'। इसी तरह गजेन्द्रने भी भगवान्‌को यही मानकर पुकारा कि 'कोई एक ईश्वर है'॥ १९६॥

प्रश्न—जब परमात्माका वर्णन कोई कर सकता ही नहीं तो फिर शास्त्रोंमें, सन्तवाणीमें परमात्माका जो वर्णन आया है, उसकी सार्थकता क्या हुई?

उत्तर—जैसा वर्णन हुआ है, वैसा मानकर साधन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, इसलिये वह वर्णन उपयोगी है॥ १९७॥

प्रश्न—भगवान्‌पर विश्वास कैसे दृढ़ हो?

उत्तर—विवेकविरोधी विश्वासका त्याग करनेसे भगवान्‌का विश्वास दृढ़ हो जाता है। विश्वास, सम्बन्ध और कर्म—ये तीनों ही विवेक-विरोधी नहीं होने चाहिये। संसारपर विश्वास करना विवेकविरोधी 'विश्वास' है। संसारको अपना मानना विवेकविरोधी 'सम्बन्ध' है। शास्त्रनिषिद्ध तथा सकामभावसे कर्म करना विवेकविरोधी 'कर्म' है।

विश्वास विवेकसमर्थित नहीं होता। जहाँ विवेककी मुख्यता है, वहाँ विश्वास नहीं होता और जहाँ विश्वासकी मुख्यता है, वहाँ विवेक नहीं होता। भगवान्‌से भी विश्वास ही माँगना चाहिये। विश्वासके सिवाय और कुछ भी माँगनेकी जरूरत नहीं है। विश्वास प्रेमका साधन है। 'भगवान् हैं और वही मेरे अपने हैं'—इस विश्वाससे प्रेम

हो जाता है॥ १९८॥

प्रश्न—भगवान् दयालु हैं या न्यायकारी?

उत्तर—भगवान् संसारकी दृष्टिसे 'न्यायकारी' हैं, ज्ञानकी दृष्टिसे 'उदासीन' हैं और भक्तिकी दृष्टिसे 'दयालु' हैं। भगवान् तीनों हैं और तीनोंसे रहित भी हैं; फर्क हमारी दृष्टिमें है।

भगवान्‌में परस्परविरोधी सब भाव रहते हैं*। वे दयालु भी हैं, उदासीन भी हैं, पक्षपाती भी हैं, सब कुछ हैं। उनको हम अपनी बुद्धिसे समझ सकते ही नहीं! भक्तोंके भावसे भगवान्‌का भी भाव बदल जाता है। भगवान्‌के भावोंको कोई कह नहीं सकता। कहना दूर रहा, सोच भी नहीं सकता! वे सब तरहसे अनन्त, अपार, असीम हैं!

किसी वस्तुके विषयमें 'वह कैसी है, कैसी नहीं है'—यह विचार तब किया जाता है, जब हम उसका त्याग करनेमें समर्थ हों। परमात्माका त्याग कोई कर ही नहीं सकता; फिर वे कैसे हैं, कैसे नहीं हैं—ऐसा विचार करनेकी क्या जरूरत! वे कैसे भी हों, पर वे हमारे हैं॥† १९९॥

प्रश्न—एक मन्दिरमें चोर मूर्ति चुराने आये तो वहाँके पुजारीने कहा कि मैं जीते-जी मूर्ति नहीं ले जाने दूँगा। संघर्ष हुआ तो पुजारी मारा गया। भगवान्‌ने पुजारीकी रक्षा क्यों नहीं की?

---

* ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि॥ (गीता ७। १२)

'जितने भी सात्त्विक भाव हैं और जितने भी राजस तथा तामस भाव हैं, वे सब मुझसे ही होते हैं—ऐसा उनको समझो। परन्तु मैं उनमें और वे मुझमें नहीं हैं।'

† असुन्दरः सुन्दरशेखरो वा गुणैर्विहीनो गुणिनां वरो वा।
द्वेषी मयि स्यात् करुणाम्बुधिर्वा श्यामः स एवाद्य गतिर्ममायम्॥

'मेरे प्रियतम श्रीकृष्ण असुन्दर हों या सुन्दर-शिरोमणि हों, गुणहीन हों या गुणियोंमें श्रेष्ठ हों, मेरे प्रति द्वेष रखते हों या करुणासिन्धु-रूपसे कृपा करते हों, वे चाहे जैसे हों, मेरी तो वे ही एकमात्र गति हैं।'

उत्तर—यह पुजारीका हठ था, प्रेम नहीं। भगवान् हठसे प्रकट नहीं होते, प्रत्युत प्रेमसे प्रकट होते हैं—

हरि ब्यापक सर्बत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

(मानस, बाल० १८५। ३)

पुजारी मारा गया तो भगवान्‌ने पापोंसे उसकी रक्षा की अर्थात् उसके पाप नष्ट हो गये। प्रायः घटना सुननेको और मिलती है तथा वास्तवमें और होती है। वास्तवमें क्या बात हुई—इसका क्या पता?

किसी घटनामें भगवान्‌का क्या हित भरा है—इसको हमारी बुद्धि नहीं पकड़ सकती। अगर हम अपनी बुद्धिसे भगवान्‌की परीक्षा करेंगे तो भगवान् फेल हो जायँगे! इसलिये अपनी बुद्धिसे पकड़नेकी चेष्टा न करे, प्रत्युत अपनी बुद्धिको उनके अर्पित कर दे कि भगवान् जो कुछ करते हैं, उसमें उनकी कृपा और सबका हित भरा होता है॥ २००॥

प्रश्न—ऐसी घटनाएँ पढ़ने-सुननेमें आती हैं कि कभी तो भगवान् संकटसे रक्षा कर देते हैं, कभी रक्षा नहीं करते, इसका क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् प्रारब्धका भोग करवाते हैं। प्रारब्ध होता है तो भगवान् रक्षा कर देते हैं और प्रारब्ध नहीं होता तो रक्षा नहीं करते। प्रारब्धभोगका विधान भगवान् करते हैं।

भक्तिकी दृष्टिसे देखें तो जैसे माँ कभी प्यार करती है, कभी थप्पड़ लगाती है तो दोनोंमें माँकी समान कृपा है, ऐसे ही भगवान् रक्षा करें अथवा रक्षा न करें, दोनोंमें उनकी समान कृपा है॥ २०१॥

प्रश्न—जब भगवान् सबकी रक्षा करनेवाले हैं तो फिर संसारमें हिंसा क्यों होती है?

उत्तर—भगवान् तो हिंसा करनेवालोंके हृदयमें दूसरेकी रक्षाकी प्रेरणा करते हैं, पर कामना तेज होनेके कारण वे भगवान्‌की आवाज नहीं सुन पाते॥ २०२॥

प्रश्न—जब भगवान् सबका पालन-पोषण करते हैं तो फिर मनुष्य भूखे क्यों मरते हैं?

उत्तर—यह उनका प्रारब्ध है। भगवान् उनके लिये अन्नकी आवश्यकता नहीं समझते। जैसे, वैद्य रोगीके लिये अन्न ग्रहण करना मना कर देता है तो उसका उद्देश्य रोगीको नीरोग बनाना है। तात्पर्य हुआ कि भूखसे वे ही मनुष्य मरते हैं, जिनका जीना भगवान् आवश्यक नहीं समझते। वास्तवमें आवश्यक वस्तु केवल परमात्मा ही हैं। भूखसे मरना भी एक साधन है, जिससे पुराने पापोंका प्रायश्चित्त होता है।

हम अपनी दृष्टिसे देखते हैं कि भगवान्‌को ऐसा करना चाहिये, ऐसा नहीं, पर भगवान् हमसे ज्यादा जानते हैं, हमसे ज्यादा दयालु हैं और हमसे ज्यादा समर्थ हैं॥ २०३॥

प्रश्न—परम उदार भगवान्‌के रहते हुए लोग अभावग्रस्त क्यों हैं?

उत्तर—लोग नाशवान् पदार्थोंको नहीं छोड़ते तो भगवान्‌की उदारता क्या करे? कोई गंगाजीके पास जाय ही नहीं, जल पीये ही नहीं तो ठण्डक कैसे मिले? जबतक नाशवान्‌का खिंचाव नहीं मिटता, तबतक मनुष्य भगवान्‌की उदारताको नहीं पकड़ सकता॥ २०४॥

प्रश्न—भगवान् कहते हैं कि सब इन्द्रियोंसे मैं ही ग्रहण किया जाता हूँ*। इन्द्रियोंसे तो विषय (जड़) ही ग्रहण होगा, परमात्मा (चेतन) कैसे ग्रहण होगा?

उत्तर—ऐसा भगवान् साधकके भीतर जड़ताकी मान्यता हटानेके लिये कहते हैं। भगवान्‌के कथनका तात्पर्य है कि जड़ नहीं है, मैं ही

---

* मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यतेऽन्यैरपीन्द्रियैः।
अहमेव न मत्तोऽन्यदिति बुध्यध्वमञ्जसा॥ (श्रीमद्भा० ११।१३।२४)

'मनसे, वाणीसे, दृष्टिसे तथा अन्य इन्द्रियोंसे जो कुछ (शब्दादि विषय) ग्रहण किया जाता है, वह सब मैं ही हूँ। अतः मेरे सिवाय और कुछ भी नहीं है—यह सिद्धान्त आप विचारपूर्वक शीघ्र समझ लें अर्थात् स्वीकार करके अनुभव कर लें।'

हूँ। साधक मेरे सिवाय अन्य किसीको सत्ता न दे॥ २०५॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि हमें प्यास लगती है तो जलरूपसे, भूख लगती है तो अन्नरूपसे भगवान् आते हैं, पर जल, अन्न आदि तो जड़ तथा परिवर्तनशील हैं?

उत्तर—हम अपनेको शरीर मानकर वस्तु चाहते हैं तो भगवान् भी वैसे ही बनकर आते हैं। हम असत्‌में स्थित होकर देखते हैं तो भगवान् भी असत्-रूपसे ही दीखते हैं। हम जैसा देखना चाहते हैं, भगवान् वैसा ही दीखते हैं; क्योंकि भगवान्‌का स्वभाव है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११) 'जो जिस प्रकार मेरी शरण लेते हैं, मैं उन्हें उसी प्रकार आश्रय देता हूँ।'॥ २०६॥

प्रश्न—भगवान् तो सुखके सागर हैं, फिर उनको सुख देनेका, उनकी सेवा करनेका भाव क्यों रखें?

उत्तर—माताएँ सन्तोंकी सेवा करती हैं, उनको भिक्षा देती हैं तो इस भावसे नहीं देतीं कि उनके पास खानेको कुछ नहीं है, प्रत्युत इस भावसे देती हैं कि हमारे द्वारा भी महाराजकी कुछ सेवा बन जाय! हमारी वस्तु भी महाराजकी सेवामें लग जाय! इसी तरह भक्तमें भी स्वाभाविक ही भगवान्‌की सेवा करनेका, उनको सुख देनेका भाव रहता है; क्योंकि वह स्वयं भी भगवान्‌का है और उसके शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि भी भगवान्‌के हैं॥ २०७॥

प्रश्न—जिसने वस्तुतः कर्म नहीं किया, केवल भूलसे अपनेको कर्ता मान लिया, उसको जब अल्पज्ञ न्यायाधीश भी दण्डादि फल नहीं देता तो फिर सर्वज्ञ ईश्वर क्यों देता है?

उत्तर—ईश्वर दण्ड नहीं देता। जो कर्ता बनता है, वही भोक्ता बनता है। वह अपनी भूलका ही फल भोगता है॥ २०८॥

प्रश्न—हम भगवान्‌से विमुख होकर संसारके सम्मुख हो जाते हैं तो भगवान् हमारी संसारकी सम्मुखता छुड़ा क्यों नहीं देते?

उत्तर—कारण कि भगवान्‌ने हमें स्वतन्त्रता दी हुई है। यदि वे स्वतन्त्रता न देते तो हम पशु-पक्षी आदिकी तरह ही होते। उस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करके हमने संसारको अपना मान लिया॥ २०९॥

प्रश्न—हम मिली हुई स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करते हैं तो भगवान् वह स्वतन्त्रता वापिस क्यों नहीं ले लेते?

उत्तर—जबतक हम स्वतन्त्रता चाहते हैं, तबतक भगवान् उसको लेंगे नहीं। दी हुई वस्तुको वापिस लेनेका अधिकार नहीं है। यह कार्य सज्जनोंका नहीं है, प्रत्युत डाकुओंका है। हाँ, अगर हम अपनी स्वतन्त्रता उनको दे दें अर्थात् अपने-आपको उनके अर्पित कर दें, उनके शरणागत हो जायँ तो वे उसको ले लेंगे अर्थात् हमें मुक्त करके भक्त बना लेंगे॥ २१०॥

प्रश्न—भगवान् सब कुछ देते हैं, पर अपनेको छिपाकर देते हैं—ऐसा क्यों?

उत्तर—व्यवहारमें ऐसा देखा जाता है कि देनेवाला अपनेमें बड़प्पनका अनुभव करता है और लेनेवाला छोटेपनका। भगवान् अपनेमें बड़प्पन और लेनेवालेमें छोटापन नहीं आने देते, इसीलिये अपनेको छिपाकर देते हैं। भगवान् जीवको तत्त्वज्ञान, मुक्ति देकर अपने समान बना लेते हैं, फिर भी अपनेको छिपाकर रखते हैं॥ २११॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि देनेवाले भी भगवान् हैं और लेनेवाले भी भगवान् हैं। लेनेवाले भगवान् कैसे?

उत्तर—भगवान्‌ने जीवमात्रको अपनेमेंसे ही प्रकट किया है, इसलिये लेनेवाले भी वे ही हैं। वास्तवमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**' (गीता ७। १९)॥ २१२॥

प्रश्न—कण-कणमें भगवान् हैं और कण-कण भगवान् ही हैं—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—कण-कणमें भगवान् हैं—यह मान्यता है और कण-कण

भगवान् ही हैं—यह वास्तविकता है॥ २१३॥

प्रश्न—नारदभक्तिसूत्रमें आया है कि ईश्वरका भी अभिमानसे द्वेष है—'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद्' (२७)। ईश्वरमें द्वेषभाव कैसे?

उत्तर—भगवान्का अभिमानसे द्वेष है, अभिमानीसे नहीं। 'द्वेष' होनेका तात्पर्य है कि उनको अभिमान सुहाता नहीं; क्योंकि अभिमानसे भक्तका महान् अनिष्ट होता है। भगवान्में भक्तका हित करनेवाली दया है, राग-द्वेषवाला द्वेष नहीं है—**'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः'** (गीता ९। २९)॥ २१४॥

प्रश्न—संसार अपना नहीं है, पर भगवान् अपने हैं—ऐसा माननेसे भगवान्से कुछ आशा, अपेक्षा रह सकती है। यदि ऐसा मानें कि न संसार अपना है, न भगवान् अपने हैं तो?

उत्तर—भगवान् अपने हैं, पर लेनेके लिये अपने नहीं हैं। केवल भगवान् ही अपने हैं—ऐसा माननेसे दूसरी सत्ता नहीं रहेगी और दूसरी सत्ता न रहनेसे कोई भी चाह नहीं रहेगी। भगवान्के सिवाय दूसरी सत्ता रहनेसे ही इच्छा होती है। जब भगवान् ही मेरे हैं तो फिर इच्छा कैसे रहेगी?

कोई भी अपना नहीं है, न संसार, न परमात्मा—ऐसा माननेसे साधक ज्ञानमार्गमें चला जायगा। अतः उसकी मुक्ति तो हो जायगी, पर प्रेमकी प्राप्ति नहीं होगी॥ २१५॥

प्रश्न—भगवान् अपने लिये हैं—ऐसा कहनेका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान् कुछ लेनेके लिये अपने नहीं हैं, प्रत्युत देनेके लिये अपने हैं। इसलिये भगवान्से कुछ नहीं चाहना है, प्रत्युत भगवान्को ही चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान् अपने लिये हैं—खुदको देनेके लिये और भगवान्को लेनेके लिये। अपनी कमीकी पूर्ति भगवान्के सिवाय और किसीसे नहीं हो सकती, इसलिये भगवान् अपने लिये हैं॥ २१६॥

प्रश्न—जो जैसा व्यवहार करे, उसके साथ वैसा व्यवहार करनेको

सन्तोंने निकृष्ट बताया है, फिर भगवान्‌के कहे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता ४। ११)—इन वचनोंका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—भगवान्‌के ये वचन (यथा-तथा) क्रियाके विषयमें हैं, भावके विषयमें नहीं। भावमें तो भगवान्‌का सबके प्रति समान प्रेमभाव है। मनुष्योंके यथा-तथामें तो स्वार्थभाव रहता है, पर भगवान्‌के यथा-तथामें स्वार्थभाव नहीं है, प्रत्युत यह भगवान्‌की महत्ता है कि कहाँ जीव और कहाँ भगवान्, फिर भी वे जीवको अपने बराबर (मित्र) बनाते हैं! तात्पर्य है कि भगवान्‌में बड़प्पनका भाव (अभिमान) नहीं है॥ २१७॥

प्रश्न—जगन्नाथके रहते हुए भी अपनेमें अनाथपनेका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि खुद नाथ (मालिक) बन गये! जैसे बालक माँके बिना नहीं रह सकता, पर विवाह होनेके बाद जब वह खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपनी माँके बिना भी रहने लगता है। ऐसे ही जब मनुष्य भगवान्‌के सिवाय अन्य वस्तु या व्यक्तिको अपना मानकर खुद मालिक बन जाता है, तब वह अपने मालिक (भगवान्) को भूल जाता है और मुफ्तमें दुःख पाता है। केवल भगवान् ही अपने हैं, और कोई भी अपना नहीं है—ऐसा माननेसे हमारा अनाथपना दूर हो जायगा और हम सनाथ हो जायँगे॥ २१८॥

प्रश्न—क्या भगवान् प्राणिमात्रका कल्याण चाहते हैं?

उत्तर—जैसे साधक भक्त प्राणिमात्रका कल्याण चाहता है, ऐसे भगवान् सबका कल्याण नहीं चाहते। भगवान्‌में प्राणिमात्रके कल्याणकी सामान्य इच्छा होती है, विशेष नहीं। अगर उनमें विशेष इच्छा हो जाय तो सबका कल्याण हो ही जाय! भगवान् स्वाभाविक ही किसीका अहित नहीं चाहते। किसीका अहित न चाहना ही उनका कल्याण चाहना है। तात्पर्य है कि भगवान्‌में शुभ इच्छा होती है, अशुभ इच्छा

होती ही नहीं। जीवन्मुक्त, भगवत्प्रेमी महापुरुषमें भी यही बात है। उनमें भी सबके कल्याणकी सामान्य इच्छा रहती है। परन्तु उनमें किसी विशेष परिस्थितिमें सामनेवाले व्यक्तिके कल्याणकी विशेष इच्छा हो सकती है। जैसे, चैतन्य महाप्रभुमें जगाई-मधाईके कल्याणकी विशेष इच्छा हो गयी तो उनका कल्याण हो गया॥ २१९॥

भगवत्कृपा

प्रश्न—जो अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति आती है, उसमें प्रारब्ध कारण है या भगवत्कृपा? कर्मका फल भगवान् देते हैं तो उनकी कृपा क्या काम आयी?

उत्तर—अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थिति कर्मोंका फल है, पर उसका विधान करनेवाले भगवान् हैं। जैसे कोई मनुष्य जंगलमें जाकर दिनभर परिश्रम करे तो उसको पैसे कौन देगा? पर वह किसी मालिकके आदेशपर परिश्रम करे तो उसको मालिक पैसे देगा। ऐसे ही कर्मोंके अनुसार फल मिलता है, पर उस फलको देनेवाले भगवान् हैं; क्योंकि जड़ होनेके कारण कर्म खुद फल देनेमें असमर्थ हैं।

भगवान् कृपाकी मूर्ति हैं। उनके प्रत्येक विधानमें कृपा भरी रहती है। परन्तु केवल प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे और कृपाकी तरफ दृष्टि न रहनेसे मनुष्य उस कृपासे लाभ नहीं उठा सकता। जैसे बछड़ा माँके दूधसे जैसा पुष्ट होता है, वैसा दूसरे दूधसे पुष्ट नहीं होता, ऐसे ही कृपाकी तरफ दृष्टि रहनेसे जैसा लाभ होता है, वैसा प्रारब्धकी तरफ दृष्टि रहनेसे लाभ नहीं होता।

प्रारब्ध (कर्मोंका फल) तो नाशवान् है, पर कृपा अविनाशी है। जैसे रेतमें चीनी मिली हुई हो तो चीनीको रेतसे अलग नहीं कर सकते। परन्तु जैसे चींटी रेतसे चीनीको अलग कर लेती है, ऐसे ही

भक्त प्रारब्धमें भी कृपाको पहचान लेता है।

परिस्थितिको कर्मोंका फल मानेंगे तो अनुकूलतामें सुख होगा और प्रतिकूलतामें दुःख होगा। परन्तु भगवान्‌की कृपा मानेंगे तो दोनों परिस्थितियोंमें आनन्द होगा! अतः कृपा माननेमें विशेष लाभ है।

मनुष्य प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है—यह भगवत्कृपा है। अगर मनुष्य रोकर, आर्तभावसे प्रार्थना करे तो भगवान् अशुभ कर्मका फल (प्रतिकूलता) माफ भी कर देते हैं और अचानक विवेक भी दे देते हैं—यह उनकी कृपा है॥ २२०॥

प्रश्न—भगवान् हमारी आवश्यकताकी पूर्ति प्रारब्धके अनुसार करते हैं या प्रारब्धके बिना अपनी कृपासे भी करते हैं?

उत्तर—भक्तोंकी आवश्यकता भगवान् अपनी कृपासे भी पूर्ण कर देते हैं। सन्त-महात्मा भी अपनी कृपासे दूसरेकी आवश्यकता पूरी कर सकते हैं; जैसे—पेड़की कलम भी फल-फूल दे देती है॥ २२१॥

प्रश्न—धनादि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति भगवान्‌की कृपासे होती है या प्रारब्धसे?

उत्तर—नाशवान् वस्तुओंकी प्राप्तिमें कृपाको लगाना गलती है। कृपा तो चिन्मयताकी प्राप्तिमें ही है। जड़ताकी प्राप्तिमें तो पतन है। अनुकूलताकी प्राप्ति होना और प्रतिकूलताका नाश होना कृपा नहीं है, प्रत्युत कर्मफल (प्रारब्ध) है। भगवान्‌की कृपा है—जड़तासे वृत्ति हटकर चिन्मयतामें हो जाय, साधनमें लग जाय, सत्संगमें लग जाय॥ २२२॥

प्रश्न—भगवान्‌की कृपा तो सबपर समानरूपसे है, फिर सबको उससे समान लाभ क्यों नहीं होता?

उत्तर—लाभ होता है भगवत्कृपाके सम्मुख होनेपर—

सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

(मानस, सुन्दर० ४४। १)

जैसे गंगाके पास रहकर भी कोई उसमें स्नान करे ही नहीं, उसका

जल पीये ही नहीं तो उसको गंगासे लाभ कैसे होगा? ऐसे ही भगवान्‌की सबपर समान कृपा होते हुए भी कोई उसके सम्मुख न हो तो उसको लाभ कैसे होगा?॥ २२३॥

प्रश्न—भगवत्कृपाके सम्मुख होना क्या है?

उत्तर—कृपाके सम्मुख होना है—कृपाको स्वीकार करना, अपनेपर भगवान्‌की कृपा मानना, प्रत्येक परिस्थितिमें उनकी कृपाको देखते रहना॥ २२४॥

प्रश्न—भगवत्कृपा और सन्तकृपामें क्या फर्क है?

उत्तर—भगवान्‌में तो यथा-तथा है—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**' (गीता ४। ११), पर सन्तोंमें यथा-तथा नहीं है। इसलिये भगवान् तो सम्मुख होनेपर कृपा करते हैं, पर सन्त सबपर कृपा करते हैं। कोई प्रेम रखनेवाला हो, द्वेष रखनेवाला हो, उदासीन हो, विरुद्ध चलनेवाला हो, दु:ख देनेवाला हो, कैसा ही प्राणी क्यों न हो, सन्तोंकी सबपर समान कृपा रहती है।

भगवान् पिताकी तरह कृपा करते हैं और सन्त माताकी तरह। पिताकी कृपामें न्याय रहता है और माताकी कृपामें मोह रहता है। मोहके कारण माता न्याय नहीं देखती। सन्तोंमें मोह तो नहीं रहता, पर प्रेम रहता है। कारण कि सन्त भुक्तभोगी होते हैं अर्थात् उन्होंने सांसारिक दु:खोंका अनुभव कर लिया होता है। इसलिये वे देखते हैं कि पहले हम भी ऐसे ही दु:खी थे; अत: दूसरेका दु:ख मिटानेके लिये वे विशेष कृपा करते हैं॥ २२५॥

प्रश्न—साधकपर भगवान्‌की कृपा स्वत: होती है या प्रार्थना करनेपर?

उत्तर—अपने भीतरकी लालसा ही प्रार्थना है। साधक अपने भीतर आवश्यकताका अनुभव करता है और अपनी स्थितिमें सन्तोष नहीं करता तो स्वत: कृपासे काम होता है। भीतरमें भूख हो तो किसी-

न-किसी उपायसे भगवान् पूर्ति कर देते हैं॥ २२६॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है तो वे सबको सत्संगका मौका क्यों नहीं देते?

उत्तर—सबको देते हैं, पर लाभ उठाना तो हमारे हाथकी बात है। वे सत्संग न भी दें, पर सत्प्रेरणा सबके हृदयमें करते हैं, सबको चेत कराते हैं, पर मनुष्य ध्यान नहीं देता॥ २२७॥

प्रश्न—भगवान्‌की सबपर समान कृपा है, फिर कृपा दीखती क्यों नहीं?

उत्तर—भोजन सबको बराबर मिलनेपर भी व्यक्ति अपनी भूखके अनुसार ही भोजन करता है। भूख सबकी समान नहीं होती। इसी तरह भगवान्‌की कृपा सबपर समान होनेपर भी भगवान्‌पर जितनी ज्यादा निर्भरता होती है, उतनी ही ज्यादा कृपा पकड़में आती है॥ २२८॥
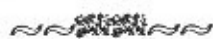
भगवद्दर्शन

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन कब होते हैं?

उत्तर—इसमें तीन बातें हैं— (१) कभी व्याकुलता हो और कभी निश्चिन्तता हो तो ऐसा होते-होते कभी दर्शन हो जाते हैं (२) कुछ भी इच्छा न हो, न संसारकी, न परमात्माकी, तब दर्शन हो जाते हैं और (३) केवल व्याकुलता हो जाय तो दर्शन हो जाते हैं।

भगवान्‌को हमसे कोई काम लेना हो तो वे अपनी इच्छासे भी दर्शन दे देते हैं। भगवान् दर्शन दें—यह हमारे हाथकी बात नहीं है, पर 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—यह मानना हमारे हाथकी बात है। जो हाथकी बात है, उसको मान लें तो फिर किसीकी जरूरत नहीं!॥ २२९॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शनसे क्या होता है?

उत्तर—भक्त मुक्ति, ज्ञान, प्रेम आदि जो चाहता है, वे सब दर्शन करनेसे मिल जाता है। यदि भक्त अपनी मान्यताका आग्रह न रखे तो दर्शन होनेपर उसको तत्त्वज्ञान हो जायगा*। भगवान्‌का स्वभाव है कि वे किसीकी मान्यताको नहीं तोड़ते।

दर्शन होनेपर तत्त्वज्ञान हो अथवा न हो, भक्तमें कोई कमी नहीं रहती। अगर भक्त भगवान्‌के परायण रहता है तो उसको तत्त्वज्ञान करानेकी, उसकी कमी दूर करनेकी जिम्मेवारी भगवान्‌पर होती है। भक्तमें तो भगवान्‌को जाननेकी जिज्ञासा ही नहीं होती॥ २३०॥

प्रश्न—ऐसे कई सन्त हुए हैं, जिन्होंने भगवान्‌के दर्शनको महत्त्व नहीं दिया, इसका क्या कारण है?

उत्तर—अधिक प्रेम होनेपर दर्शनकी इच्छा ही नहीं होती। कारण कि प्रेममें एक रस, मादकता होती है, भक्त उसीमें मस्त रहता है।

प्रेमकी अपेक्षा दर्शन अनित्य होता है। प्रेम तो नित्य-निरन्तर रहता है, पर दर्शन नित्य नहीं होता। इसलिये चतुर भक्त प्रेम ही चाहते हैं। असली रस प्रेममें ही है, मिलने या न मिलनेमें नहीं। जबतक प्रेमास्पदसे मिलनेकी इच्छा है, तबतक असली प्रेम जाग्रत् नहीं हुआ। असली प्रेम जाग्रत् होनेपर प्रेमास्पद मिले या न मिले, कोई इच्छा नहीं रहती॥ २३१॥

प्रश्न—शूर्पणखा, दुर्योधन, शकुनि आदिने भगवान्‌के साकार रूप (श्रीराम और श्रीकृष्ण) के दर्शन किये थे, फिर उनमें काम-क्रोधादि दोष नष्ट क्यों नहीं हुए?

उत्तर—वास्तवमें उन्होंने भगवान्‌के दर्शन किये ही नहीं थे। वे भगवान् राम और कृष्णको ईश्वररूपसे न मानकर मनुष्यरूपसे ही देखते थे, फिर ईश्वर-दर्शन कैसा? उनके भीतर ईश्वरभाव अथवा भक्तिभाव

* मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥

(मानस, अरण्य० ३६। ५)

था ही नहीं। अतः उनको ईश्वररूपसे ईश्वर नहीं मिला। सम्पूर्ण जगत् भी ईश्वररूप ही है, पर मनुष्य मानते कहाँ हैं!॥ २३२॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्तिमें कोई कारक या कर्ता नहीं चलता; परन्तु सन्तोंके द्वारा दूसरेको भगवान्‌के दर्शन करवानेकी बात भी आती है, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—यह बात लोगोंकी दृष्टिसे कही गयी है, वास्तविक नहीं है। भगवान्‌के दर्शन करना और करवाना हाथकी बात नहीं है। भगवान् कृपापूर्वक अपनी मरजीसे ही दर्शन देते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन। जानहिं भगत भगत उर चंदन॥

(मानस, अयोध्या० १२७। २)

कर्ता तो स्वतन्त्र होता है—'**स्वतन्त्रः कर्त्ता**' (पाणि० अ० १।४।५४), जबकि भगवद्दर्शन करवानेवाला स्वतन्त्र नहीं होता। भगवान्‌से प्रार्थना हो सकती है, पर उनके ऊपर शासन नहीं हो सकता। अगर खुदकी इच्छा हो तो सन्तोंकी कृपा भगवद्दर्शनमें सहायक हो सकती है॥ २३३॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन हों और वे कहें कि वर माँगो, पर कुछ माँगे नहीं तो क्या फल होगा?

उत्तर—माँगनेसे वस्तुके साथ सम्बन्ध होता है और कुछ न माँगनेसे भगवान्‌के साथ सम्बन्ध होता है। अतः जो कुछ नहीं माँगता, उसको भगवान् अपने-आपको दे देते हैं अर्थात् उसके अधीन हो जाते हैं!॥ २३४॥

प्रश्न—भगवान्‌के दर्शन होनेपर भक्त स्तुति करता है या स्तुति होती है?

उत्तर—स्तुति करता नहीं, प्रत्युत स्तुति होती है॥ २३५॥
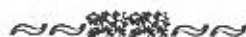
भगवत्प्राप्ति

प्रश्न—जब भगवत्प्राप्तिके लिये ही मनुष्यशरीर मिला है तो फिर भगवत्प्राप्ति कठिन क्यों दीखती है?

उत्तर—भोगोंमें आसक्ति रहनेके कारण! भगवत्प्राप्ति कठिन नहीं है, भोगोंकी आसक्तिका त्याग कठिन है॥ २३६॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति कठिन कहें अथवा भोगासक्तिका त्याग कठिन कहें, बात तो एक ही हुई?

उत्तर—नहीं, बहुत बड़ा अन्तर है। भगवत्प्राप्तिको कठिन माननेसे साधक श्रवण, मनन, जप, स्वाध्याय आदिमें ही तेजीसे लगेगा और भोगासक्तिके त्यागकी तरफ ध्यान नहीं देगा। वास्तवमें भगवान् तो प्राप्त ही हैं, केवल संसारके सम्बन्धका त्याग करना है॥ २३७॥

प्रश्न—संसारके सम्बन्धका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—जोरदार जिज्ञासा हो अथवा आर्तभावसे रोकर प्रार्थना की जाय तो संसारका सम्बन्ध छूट जायगा। भगवान्‌की कृपासे कभी अचानक विवेक जाग्रत् हो जायगा और संसारकी आसक्ति छूट जायगी॥ २३८॥

प्रश्न—भगवत्प्राप्ति सुगम कैसे है?

उत्तर—भगवान् नित्यप्राप्त हैं। वे प्रत्येक देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति और घटनामें परिपूर्ण हैं। उनकी प्राप्ति जड़ता (शरीर-संसार)-के द्वारा नहीं होती, प्रत्युत जड़ताके त्यागसे होती है। परन्तु नाशवान् संसारकी तरफ दृष्टि रहनेसे, नाशवान् सुखकी आसक्ति रहनेसे नित्यप्राप्त परमात्माका अनुभव नहीं होता। यह जानते हैं कि शरीर-संसार नाशवान् है, फिर भी इस जानकारीको आदर नहीं देते! वास्तवमें 'शरीर-संसार नाशवान् हैं'—इसको सीख लिया है, जाना

नहीं है। इसलिये नाशवान् जानते हुए भी सुख-लोलुपताके कारण उसमें फँसे रहते हैं। वास्तवमें नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनी है और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनी है॥ २३९॥

प्रश्न—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति और नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करना क्या है?

उत्तर—नित्यनिवृत्तकी निवृत्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यनिवृत्त है, उस शरीर-संसारको रखनेकी भावना छोड़ना अर्थात् वह बना रहे—इस इच्छाका त्याग करना। नित्यप्राप्तकी प्राप्ति करनेका तात्पर्य है—जो नित्यप्राप्त है, उस परमात्मतत्त्वको श्रद्धा-विश्वासपूर्वक स्वीकार करना।

जो कभी भी अलग होगा, वह अब भी अलग है और जो कभी भी मिलेगा, वह अब भी मिला हुआ है। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य 'नित्यनिवृत्त' अर्थात् सदा ही हमसे अलग हैं और परमात्मा 'नित्यप्राप्त' अर्थात् सदा ही हमें प्राप्त हैं। जो तत्त्व सब जगह ठोस रूपसे विद्यमान है, वह हमसे दूर हो सकता ही नहीं। परमात्मा कभी हमसे अलग हुए नहीं, हैं नहीं, होंगे नहीं और हो सकते नहीं; क्योंकि उसीकी सत्तासे हम सत्तावान् हैं॥ २४०॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति बहुत सुगम है तो फिर उसमें बाधा क्या लग रही है?

उत्तर—अनेक बाधाएँ हैं; जैसे—

(१) भोग भोगने और संग्रह करनेमें आसक्ति है।

(२) परमात्मप्राप्तिकी जोरदार जिज्ञासा (भूख) नहीं है।

(३) अपनी वर्तमान स्थितिमें सन्तोष कर रखा है।

(४) परमात्मप्राप्तिको सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिकी तरह मान रखा है। इस मान्यताके कारण क्रिया करनेको अधिक महत्त्व देते हैं, विवेक और भावको महत्त्व नहीं देते।

(५) तत्त्वको ठीक तरहसे जाननेवाले महात्मा नहीं मिलते।

(६) थोड़ी-सी बातें जानकर, थोड़ा-सा साधन करके अभिमान कर लेते हैं।

(७) कुछ करनेसे प्राप्ति होगी, गुरु नहीं मिला, समय ऐसा ही है, प्रारब्ध ऐसा ही है, हम योग्य नहीं हैं, हम अधिकारी नहीं हैं—ऐसे जो संस्कार भीतर बैठे हैं, वे बाधा देते हैं॥ २४१ ॥

प्रश्न—कई साधक भगवान्‌के लिये रोते हैं, व्याकुल होते हैं, फिर भी उनको भगवान् क्यों नहीं मिलते?

उत्तर—उनके भीतर भगवान्‌के सिवाय अन्य (सुख-आराम, मान-बड़ाई आदि) की चाहना रहती है, अन्य वस्तु-व्यक्तिकी महत्ता और प्रियता रहती है। अतः भगवान्‌के लिये रोना तो तात्कालिक होता है, फिर वहीं-की-वहीं स्थिति हो जाती है।

चाहना एक भगवान्‌की ही होनी चाहिये—

एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥

(मानस, अरण्य० १०। ४)

वे साधनमें लगे रहें तो अन्य चाहना मिटकर, एक चाहना प्रबल होनेपर भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है॥ २४२ ॥

प्रश्न—विकार अन्तःकरणमें होते हैं; अतः परमात्मप्राप्तिमें कोई विकार बाधक नहीं है। परन्तु परमात्मप्राप्तिमें भोगासक्तिको बाधक भी बताया जाता है। दोनोंमें कौन-सी बात सही है?

उत्तर—अन्तःकरणके साथ मिलकर उन विकारोंको अपनेमें मान लेते हैं तो वे विकार बाधक होते हैं। यदि अन्तःकरणके साथ अपना सम्बन्ध न मानें तो उसमें होनेवाले विकार बाधक नहीं होते॥ २४३ ॥

प्रश्न—कोई भी कारक भगवान्‌तक नहीं पहुँच सकता तो क्या सम्प्रदान और अपादान कारक भी नहीं पहुँच सकते? भगवान्‌को अपने-आपको देना सम्प्रदान हुआ और संसारका त्याग करना अपादान हुआ!

उत्तर—भगवान्‌के अर्पित होना और संसारका त्याग करना क्रियावाला सम्प्रदान-अपादान नहीं है। ये दोनों क्रियाएँ नहीं हैं, प्रत्युत अपनी गलत मान्यताओंका त्याग है; क्योंकि वास्तवमें हम भगवान्‌के हैं और संसारके नहीं हैं।

गाँवसे व्यक्ति आया—इसमें गाँव अपादान है और उसने दान दिया—इसमें दाता सम्प्रदान है। अपादानमें आनेकी क्रिया है और सम्प्रदानमें देनेकी क्रिया है—ये दोनों ही क्रियाएँ परमात्मातक नहीं पहुँच सकतीं। हाँ, सत्-क्रिया निरर्थक नहीं होती, प्रत्युत परमात्मप्राप्तिमें सहायक होती है। सत्-अंश कल्याणकारी होता है, क्रिया-अंश नहीं।

खास बात है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये जड़ता (क्रिया और पदार्थ अथवा शरीर-संसार) की सहायता लेनेकी जरूरत ही नहीं है। उसकी प्राप्ति जड़ताके त्यागसे होती है। क्रिया और पदार्थ—दोनों ही जड़ हैं। क्रियाका आरम्भ और अन्त होता है, पदार्थकी उत्पत्ति और विनाश होता है। यह नित्य रहनेवाली चीज ही नहीं है॥ २४४॥

प्रश्न—शरीरकी सहायताके बिना हम साधन कैसे करेंगे?

उत्तर—साधन करनेमें क्रियाकी मुख्यता नहीं है, प्रत्युत विवेक और भावकी मुख्यता है। इसलिये शरीरकी सहायताके बिना हम कामनारहित हो सकते हैं, ममतारहित हो सकते हैं, अहंकाररहित हो सकते हैं, भगवान्‌को अपना मान सकते हैं और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उनके शरणागत हो सकते हैं। ऐसा होनेके लिये शरीरकी जरूरत ही नहीं है।

सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्ति तो शरीरके द्वारा होती है, पर परमात्माकी प्राप्ति शरीरके त्याग (सम्बन्ध-विच्छेद) से होती है। परमात्मप्राप्तिमें शरीर लेशमात्र भी सहायक अथवा बाधक नहीं है। परमात्मतत्त्वमें क्रिया नहीं है, इसलिये क्रियारहित होनेसे ही उसकी प्राप्ति होगी॥ २४५॥

प्रश्न—परमात्मप्राप्ति भावसे होती है, क्रियासे नहीं। परन्तु भाव भी तो मन-बुद्धिमें पैदा होता है?

उत्तर—भाव अनेक प्रकारके होते हैं। मन-बुद्धिमें राग-द्वेष आदि भाव पैदा होते हैं। परन्तु 'मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं'—यह सम्बन्धात्मक भाव स्वयंमें रहता है॥ २४६॥

प्रश्न—संसारको और परमात्माको प्राप्त करनेकी प्रक्रिया एक नहीं है—इसका तात्पर्य?

उत्तर—संसारकी प्राप्ति अप्राप्तकी प्राप्ति है और परमात्माकी प्राप्ति नित्यप्राप्तकी प्राप्ति है। संसारकी प्राप्तिमें 'करना' मुख्य है और परमात्माकी प्राप्तिमें 'न करना' मुख्य है। सांसारिक वस्तुका निर्माण करना पड़ता है, कहींसे लाना पड़ता है, पर परमात्माको बनाना या कहींसे लाना नहीं पड़ता; क्योंकि परमात्मा सब देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, क्रिया, परिस्थिति, घटना और अवस्थामें समानरूपसे सदा परिपूर्ण हैं। जो तत्त्व सब देश, काल आदिमें परिपूर्ण है, वह क्रियासे कैसे मिलेगा? क्रिया करनेसे तो उल्टे वह हमसे दूर होगा॥ २४७॥

प्रश्न—न दीखनेवाला तत्त्व कैसे दीखे?

उत्तर—दीखनेवालेको सत्ता और महत्ता न दें तो न दीखनेवाला दीखने लग जायगा॥ २४८॥

प्रश्न—जब भगवान्‌ने मनुष्यजन्म दे दिया, सत्संग दे दिया तो फिर उनकी प्राप्तिमें देरी क्यों?

उत्तर—भगवान्‌से जो मिला है, उसका सदुपयोग न करनेसे ही देरी लग रही है। जितना समय, समझ, सामर्थ्य और सामग्री मिली है, उसका सदुपयोग करना है। भगवान्‌से मिली वस्तुको व्यक्तिगत माननेसे ही अपनेमें निर्बलता आती है, जिससे हम उसका सदुपयोग नहीं कर पाते। बलका अभाव बाधक नहीं है, प्रत्युत बलका दुरुपयोग बाधक है। 'कर नहीं सकते'—यह निर्बलता बाधक नहीं है, प्रत्युत 'कर

सकते हैं, पर करते नहीं'—यह निर्बलता बाधक है॥ २४९॥

प्रश्न—उपनिषद्‌में आया है कि बलहीन मनुष्यको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मुण्डक० ३। २। ४)—इसका क्या तात्पर्य है?

उत्तर—यहाँ 'बल' शब्द का अर्थ है—उत्साह, हिम्मत। जिसका उत्साह भंग हो गया है, जो हिम्मत हार चुका है, वह मनुष्य 'बलहीन' है।

निर्बलता दो तरहकी होती है—(१) करनेमें असमर्थ होना और (२) करनेमें समर्थ होते हुए भी न करना। जानते हैं और कर सकते हैं, फिर भी वैसा करते नहीं—यह निर्बलता होनेपर मनुष्य परमात्मप्राप्ति नहीं कर सकता। इसलिये सन्तोंने कहा है—

हिम्मत मत छाँड़ो नराँ, मुख ते कहताँ राम।
'हरिया' हिम्मत से किया, ध्रुवका अटल धाम॥

प्रश्न—क्या तीव्र व्याकुलता हुए बिना भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है?

उत्तर—भगवत्प्राप्ति तीन कारणोंसे होती है—(१) निर्बलतासे (२) निर्भरतासे और (३) कभी निर्बलता तथा कभी निर्भरता होनेसे। तात्पर्य है कि अगर तेजीसे व्याकुलता हो जाय तो प्राप्ति हो जायगी अथवा भगवान्‌की कृपापर पूरी निर्भरता हो जाय कि जो होगा, उनकी कृपासे होगा तो प्राप्ति हो जायगी। कभी निर्बलता (व्याकुलता) और कभी निर्भरता हो तो दोनोंमेंसे कभी एक पूरी होनेसे भगवत्प्राप्ति हो जायगी॥ २५१॥

प्रश्न—कभी निर्बलता और कभी निर्भरता तो प्रायः सभी साधकोंमें रहती है, फिर वह पूरी क्यों नहीं होती?

उत्तर—साधनमें कुछ-न-कुछ अपना बल, अपनी योग्यता मिला लेनेसे न निर्बलता पूरी होती है, न निर्भरता। अतः यह आशा ही टूट जानी चाहिये कि हम अपने बलसे प्राप्त कर लेंगे। परन्तु प्राप्तिकी

उत्कण्ठा पूरी होनी चाहिये; क्योंकि जब भगवान्‌के बलसे, उनकी कृपासे प्राप्ति होगी तो फिर हम निराश हों ही क्यों?॥ २५२॥

प्रश्न—अन्तःकरण शुद्ध न होनेसे परमात्मामें रुचि नहीं होगी और रुचि न होनेसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी; अतः परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण हुई?

उत्तर—परमात्मप्राप्तिमें अन्तःकरणकी शुद्धि कारण नहीं है; क्योंकि परमात्मप्राप्ति करणके द्वारा नहीं होती, प्रत्युत करणके सम्बन्ध-विच्छेदसे होती है। अन्तःकरण अशुद्ध होनेसे परमात्माकी तरफ रुचि नहीं होगी—यह नियम नहीं है। कोई बड़ी आफत आनेपर, किसी सन्तकी कृपा होनेपर अथवा अन्य किसी कारणसे अशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य भी परमात्मामें लग सकता है, क्योंकि मूलमें वह परमात्माका ही अंश है। इसीलिये गीतामें आया है—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥ (४।३६)

'अगर तू सब पापियोंसे भी अधिक पापी है, तो भी तू ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पाप-समुद्रसे अच्छी तरह तर जायगा।'

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ (९।३०)

'अगर कोई दुराचारी-से-दुराचारी भी अनन्यभक्त होकर मेरा भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। कारण कि उसने निश्चय बहुत अच्छी तरह कर लिया है'॥ २५३॥

प्रश्न—जो हमारा है, वह हमें मिलता क्यों नहीं?

उत्तर—जो हमारा नहीं है, उसको अपना न मानें तो वह मिला हुआ ही है। हमें केवल अपनी भूल मिटानी है। सुखकी कामना, आशा और भोगके कारण ही 'संसार हमारा नहीं है'—इसका अनुभव नहीं होता॥ २५४॥
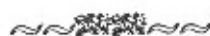
मनुष्यजन्म

प्रश्न—मनुष्यजन्म प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे?

उत्तर—भगवत्कृपासे मिलता है। यदि प्रारब्धसे मनुष्यशरीर मिलता तो क्रमसे चौरासी लाख योनियोंसे होता हुआ मिलता। परन्तु भगवान् कर्मोंका फल पूरा भोगनेसे पहले, बीचमें ही अपनी कृपासे मनुष्यशरीर दे देते हैं। तात्पर्य है कि मनुष्यशरीर मिलता तो कर्मोंसे ही है, पर भगवान् अपना कल्याण करनेके लिये बीचमें ही मनुष्यशरीर दे देते हैं—यह भगवान्‌की कृपा है*॥ २५५॥

प्रश्न—मनुष्यजन्म मिलनेमें यदि भगवत्कृपा कारण है तो फिर कई बालक जन्मके बाद ही मर जाते हैं अथवा उनका मस्तिष्क जन्मसे ही विकृत होता है, फिर उनका कल्याण कैसे होगा?

उत्तर—उनकी आकृति तो मनुष्यकी है, पर वास्तवमें वह भोगयोनि ही है। भोग भोगनेसे उनकी शुद्धि होगी ही। वास्तवमें आकृतिका नाम मनुष्य नहीं है, प्रत्युत विवेकशक्तिका नाम मनुष्य है। विवेकके बिना वह केवल मनुष्यका ढाँचा है, मनुष्य नहीं। सन्तकृपासे उनका कल्याण हो सकता है।

पशुमें भी जितने अंशमें विवेक है, उतने अंशमें वह मनुष्य है! मनुष्यमें भी यदि अविवेक है तो वह पशु ही है—**'मनुष्यरूपेण मृगांश्चरन्ति'**। विवेक विकसित होनेसे ही वह मनुष्य बनता है॥ २५६॥

प्रश्न—विवेक तो अनादि है और अन्य योनियोंको भी प्राप्त है, फिर मनुष्ययोनिकी क्या महिमा हुई?

उत्तर—मनुष्यदेहका मस्तिष्क विशेष प्रकारका बना हुआ है, जिसमें विवेक विशेषरूपसे जाग्रत् हो सकता है। अन्य योनियोंमें वैसा मस्तिष्क नहीं है; अतः उनका विवेक जीवन-निर्वाहतक सीमित रहता है। कर्तव्य

---

* कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ (मानस०, उत्तर० ४४। ३)

और अकर्तव्य, सत् और असत्‌का विवेक मनुष्यशरीरमें ही जाग्रत् हो सकता है, जिसको महत्त्व देकर मनुष्य अपना कल्याण कर सकता है॥ २५७॥

प्रश्न—सन्त कहते हैं कि शरीर अपने काम आता ही नहीं, यह कैसे?

उत्तर—वास्तवमें शरीर अपने काम नहीं आता, प्रत्युत विवेक अपने काम आता है। यह विवेक अन्य योनियोंमें नहीं है। मनुष्यशरीरमें विवेकको महत्त्व देनेसे शरीरका त्याग ही अपने काम आता है। शरीर त्यागसे अपने लिये और सेवासे दूसरेके लिये उपयोगी होता है॥ २५८॥

प्रश्न—त्याग तो अपने लिये हुआ?

उत्तर—त्याग भी अपने लिये नहीं है, प्रत्युत त्यागका फल (शान्ति) अपने लिये है—**'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'** (गीता १२। १२)। त्याज्य वस्तु दूसरोंके काम आती है और त्यागका फल हमारे काम आता है। त्यागके फल (शान्ति) का भी सुख लेंगे तो वह भी बन्धनकारक हो जायगा॥ २५९॥

प्रश्न—जन्म लेते ही बालकको वैष्णवी माया घेर लेती है—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—वैष्णवी माया वह है, जिससे सब संसारकी रचना होती है। बाहरी मायाका असर तब होता है, जब अपने भीतर माया होती है। हमारे भीतर कुसंस्कार (कुसंगका संस्कार) होता है, तभी बाहरी कुसंगका असर पड़ता है। भीतरका कुसंस्कार है—असत्‌की सत्ता और महत्ता मानकर उससे सम्बन्ध जोड़ना॥ २६०॥

प्रश्न—मनुष्यके पतनका कारण क्या है?

उत्तर—भोगोंकी इच्छा और संग्रहकी इच्छा—इन दो इच्छाओंसे मनुष्यका पतन होता है। तात्पर्य है कि संसारसे कुछ भी लेनेकी इच्छा ही पतन करनेवाली है॥ २६१॥

मुक्ति (कल्याण)

प्रश्न—मुक्त होनेपर अपनेमें क्या विशेषता आती है?

उत्तर—मुक्त होनेपर कोई विशेषता नहीं आती, प्रत्युत अपनेमें जो कुछ विशेषता दीखती है, वह मिट जाती है! तात्पर्य है कि मुक्त होनेपर विशेषता देखनेवाला (व्यक्तित्व) नहीं रहता। एकदेशीयता मिट जाती है। किसी भी जगह अपना अभाव नहीं दीखता।

मुक्त होनेपर 'मैं एक शरीरमें हूँ'—यह भी नहीं होता और 'मैं सब जगह हूँ'—यह भी नहीं होता, प्रत्युत 'मैं' ही नहीं रहता। विशेषता प्रेमसे आती है*। ज्ञानमें तो विशेषता मिटती है और एक समता रहती है॥ २६२॥

प्रश्न—मुक्त होनेपर फिर बन्धन क्यों नहीं होता?

उत्तर—कारण कि बन्धन वास्तवमें है नहीं, प्रत्युत हमारा बनाया हुआ है। बन्धन कृत्रिम (बनावटी) है, मुक्ति स्वत:सिद्ध है॥ २६३॥

प्रश्न—वेदान्तमें चार प्रतिबन्धक माने गये हैं—संशय (प्रमाणगत और प्रमेयगत), विपरीत भावना, असम्भावना और विषयासक्ति। इन प्रतिबन्धकोंके रहते हुए कोई जीवन्मुक्त हो सकता है क्या?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। तीव्र जिज्ञासा होनेपर प्रतिबन्धक मिट जाते हैं॥ २६४॥

प्रश्न—परमात्मा कर्ता-निरपेक्ष है, पर मुक्तिकी इच्छा तो कर्तामें ही होती है, फिर मुक्ति कैसे होगी?

उत्तर—यद्यपि साधकके लिये मुक्तिकी इच्छा करना अच्छा है, तथापि वास्तवमें बात यह है कि मुक्तिकी इच्छा करनेसे क्रियाके साथ सम्बन्ध हो जाता है, जिससे साधन करण-सापेक्ष हो जाता है। तात्पर्य है कि दूसरी इच्छाएँ मिटानेके लिये साधक मुक्तिकी इच्छा करे। दूसरी कोई इच्छा न रहे

* मुक्तिमें तो छूटना है, पर प्रेममें प्राप्ति है।

तो फिर मुक्तिकी भी इच्छा न करे। कारण कि मुक्ति नित्य तथा स्वत:सिद्ध है। सब कुछ बदलता है, पर सत्ता ज्यों-की-त्यों रहती है। इसलिये मुक्ति होती नहीं है, प्रत्युत मुक्ति है। केवल बन्धनकी मान्यता मिटती है। अगर मुक्ति होती है—ऐसा मानें तो पुन: बन्धन भी हो सकता है॥ २६५॥

प्रश्न—अधिक धनी, अधिक विद्वान्, अधिक दरिद्र और अधिक रोगी—इनका कल्याण होना कठिन क्यों है?

उत्तर—अधिक धनीमें धनकी अधिक आसक्ति रहती है, अधिक विद्वान्‌में विद्याकी अधिक आसक्ति रहती है, अधिक दरिद्रमें धनकी अधिक आसक्ति रहती है और अधिक रोगीमें शरीरकी अधिक आसक्ति रहती है। यह आसक्ति ही उनके कल्याणमें बाधक होती है। आसक्ति अधिक होनेके कारण ये जल्दी भगवान्‌में नहीं लगते। यदि आसक्ति न रहे तो इनका भी कल्याण हो सकता है॥ २६६॥

प्रश्न—भीष्म पितामह जीवन्मुक्त महापुरुष थे, फिर शरीर छोड़कर वे आजानदेवताओंके लोक (वसुलोक) क्यों गये?

उत्तर—वे पहले आजानदेवता (वसु) ही थे और शापके कारण पृथ्वीपर आये थे। इसलिये शरीर छोड़कर वे वहीं गये, जहाँसे वे आये थे। हाँ, आजानदेवताकी अवधि पूरी होनेपर वे मुक्त हो जायँगे॥ २६७॥

प्रश्न—निर्गुणको माननेवालोंकी 'मुक्ति' और सगुणको माननेवालोंको 'सायुज्य' की प्राप्ति—दोनोंमें अन्तर क्या है?

उत्तर—सायुज्यमें समग्रकी अर्थात् ऐश्वर्यसहित सगुण परमात्माकी प्राप्ति है। मुक्तिमें निर्गुण ब्रह्मकी प्राप्ति है, जो समग्रका ऐश्वर्य है!॥ २६८॥

प्रश्न—क्या भक्त सालोक्यके बाद क्रमश: सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्यको प्राप्त होते हुए अन्तमें सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है?

उत्तर—यह भक्तके भावपर निर्भर है। भक्तका भाव हो तो वह अनन्तकालतक सालोक्यमें रह सकता है। वहाँ सन्तोष न हो तो भगवान् उसे बदल देते हैं।

गीताके अनुसार सालोक्यादि पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ 'साधर्म्य' के अन्तर्गत हैं—'मम साधर्म्यमागताः' (१४। २)। यद्यपि साधर्म्यकी बात भक्तिमें कहनी चाहिये, तथापि भगवान्‌ने इसको ज्ञानमें कहा है। इसका तात्पर्य है कि परमात्मतत्त्व एक ही है। केवल प्रेमके लिये वह एकसे दो होता है॥ २६९॥

प्रश्न—मोक्षशास्त्रको धर्मशास्त्रसे श्रेष्ठ क्यों माना गया है? क्या धर्मशास्त्रसे कल्याण नहीं होता?

उत्तर—निष्कामभाव होनेके कारण मोक्षशास्त्रको धर्मशास्त्रसे श्रेष्ठ माना गया है। धर्मसे कल्याण तभी होता है, जब उसका पालन निष्कामभावसे किया जाय। तात्पर्य है कि कल्याण धर्मसे नहीं होता, प्रत्युत निष्कामभावसे होता है॥ २७०॥

प्रश्न—कुछ व्यक्ति मुक्तिकी निन्दा करते हैं और राधा-कृष्णके नित्यविहारमें प्रवेश करनेको ही मानव-जीवनकी पूर्णता मानते हैं, यह ठीक है क्या?

उत्तर—वे मुक्तिको समझते ही नहीं कि मुक्ति क्या होती है! मुक्ति किसी जानवरका नाम थोड़े ही है! जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेको ही मुक्ति कहते हैं। जड़तासे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर ही राधाकृष्णके नित्यविहारमें प्रवेश, गोपीभावकी प्राप्ति अथवा परमप्रेमकी प्राप्ति होती है॥ २७१॥

प्रश्न—क्या सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त होनेके बाद भी जीवको संसारमें वापिस आना पड़ता है?

उत्तर—सालोक्य, सामीप्य आदिकी प्राप्ति होनेपर जीवका पुनरागमन नहीं होता, इसीलिये उनकी 'मुक्ति' संज्ञा है। सालोक्यादिकी प्राप्तिमें पूर्णता है। अगर कोई जीव वहाँसे वापिस आता है तो वह कर्मोंके परवश होकर नहीं आता, प्रत्युत भगवान्‌की इच्छासे कारक पुरुषके रूपमें अवतार लेता है॥ २७२॥

मृत्यु

प्रश्न—जैसे मृत्युका समय निश्चित है, ऐसे ही मृत्युके समय होनेवाला कष्ट भी क्या निश्चित है?

उत्तर—नहीं। सब अपने पाप-पुण्यका फल भोगते हैं। किसीको पापका फल भोगना हो तो उसको अधिक कष्ट होता है। परन्तु दुःख उसीको होता है, जिसके भीतर जीनेकी इच्छा है॥ २७३॥

प्रश्न—जीवनमें जो पुण्यात्मा रहे, साधन-भजन करनेवाले रहे, वे भी अन्तसमयमें कष्ट पायें तो क्या कारण है?

उत्तर—भगवान् उनके पूर्वजन्मोंके सब पापोंको नष्ट करके शुद्ध करना चाहते हैं, जिससे उनका कल्याण हो जाय॥ २७४॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि मृत्युके समय मनुष्यको हजारों बिच्छू काटनेके समान कष्ट होता है, पर सन्तोंकी वाणीमें आया है कि मृत्युसे कष्ट नहीं होता, प्रत्युत जीनेकी इच्छासे कष्ट होता है। वास्तवमें क्या बात है?

उत्तर—जैसे बालकसे जवान और जवानसे बूढ़ा होनेमें कोई कष्ट नहीं होता, ऐसे ही मृत्युके समय भी वास्तवमें कोई कष्ट नहीं होता*। कष्ट उसीको होता है, जिसमें यह इच्छा है कि मैं जीता रहूँ। तात्पर्य है कि जिसका शरीरमें मोह है, उसीको मृत्युके समय हजारों बिच्छू एक साथ काटनेके समान कष्ट होता है। शरीरमें जितना मोह,

---

* देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥ (गीता २। १३)

'देहधारीके इस मनुष्यशरीरमें जैसे बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, ऐसे ही दूसरे शरीरकी प्राप्ति होती है। उस विषयमें धीर मनुष्य मोहित नहीं होता।'

राम चरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग॥ (मानस, किष्किं० १०)

आसक्ति, ममता होगी तथा जीनेकी इच्छा जितनी अधिक होगी, उतना ही शरीर छूटनेपर अधिक दुःख होगा॥ २७५॥

प्रश्न—किसीकी मृत्युका शोक जितना यहाँ किया जाता है, उतना विदेशोंमें नहीं किया जाता तो क्या यहाँके लोगोंमें मोह ज्यादा है?

उत्तर—यह बात नहीं है। जहाँ व्यक्तिगत मोह ज्यादा होता है, वहाँ शोक कम होता है। व्यक्तिगत मोहमें अज्ञता, मूढ़ता ज्यादा होती है। व्यक्तिगत मोह पशुता है। बँदरीका अपने बच्चेमें इतना मोह होता है कि मरे हुए बच्चेको भी साथ लिये घूमती है, पर खाते समय यदि बच्चा पासमें आ जाय तो ऐसे घुड़की देती है कि वह चीं-चीं करते हुए भाग जाता है!

दूसरेकी मृत्युपर शोक न होनेका कारण है कि मोह बहुत संकुचित और पतन करनेवाला हो गया। व्यापक मोह तो मिट सकता है, पर संकुचित (व्यक्तिगत) मोह जल्दी नहीं मिटता। व्यक्तिगत मोह दृढ़ होता है—***'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि'*** (मानस, अयोध्या० १४२।१)। ज्यों-ज्यों मोह छूटता है, त्यों-त्यों मनुष्यकी स्थिति व्यापक होती है*। तात्पर्य है कि मोह जितना व्यापक होता है, उतना ही वह घटता है। जैसे, पहले अपने शरीरमें मोह होता है, फिर कुटुम्बमें मोह होता है, फिर जातिमें मोह होता है, फिर मोहल्लेमें मोह होता है, फिर गाँवमें मोह होता है, फिर प्रान्तमें मोह होता है, फिर देशमें मोह होता है, फिर मनुष्यमात्रमें मोह होता है, फिर जीवमात्रमें मोह होता है। अन्तमें किसीमें भी मोह नहीं रहता। यह सिद्धान्त है कि किसीमें मोह नहीं होता तो सबमें मोह होता है और सबमें मोह होता है तो किसीमें मोह नहीं होता। व्यापक मोह वास्तवमें

---

* अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥ (पंचतंत्र, अपरीक्षित. ३८)

'यह अपना है और यह पराया—इस प्रकारका विचार संकुचित भावनाके व्यक्ति करते हैं। उदार-भाववाले व्यक्तियोंके लिये तो सम्पूर्ण विश्व ही अपने कुटुम्बके समान है।'

मोह नहीं है, प्रत्युत आत्मीयता है॥ २७६॥

प्रश्न—शास्त्रमें आया है कि धर्मराजके पास जानेमें मृतात्माको एक वर्षका समय लगता है। क्या यह सबके लिये है?

उत्तर—यह सबके लिये नहीं है, प्रत्युत उनके लिये है, जो अत्यन्त पापी हैं। उनके लिये धर्मराजके पास जानेका मार्ग भी बड़ा कष्टदायक होता है। मृत्युके बाद अपने-अपने कर्मोंके अनुसार गति होती है। भगवान्‌के भक्त धर्मराजके पास नहीं जाते॥ २७७॥

प्रश्न—अन्तकालमें न भगवान्‌का चिन्तन हो, न संसारका तो क्या गति होगी?

उत्तर—ऐसा सम्भव नहीं है। कुछ-न-कुछ चिन्तन तो होगा ही—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'** (गीता ३। ५)॥ २७८॥

प्रश्न—अन्तसमयमें भगवान्‌की याद आये—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—हर समय भगवान्‌का स्मरण करें; क्योंकि हर समय ही अन्तकाल है। मृत्यु कब आ जाय, इसका क्या पता! इसलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है—**'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'** (८। ७) 'इसलिये तू सब समयमें मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर।'॥ २७९॥

प्रश्न—मनुष्य जिस-जिसका चिन्तन करते हुए शरीर छोड़ता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है—यह नियम क्या आत्महत्या करनेवालेपर भी लागू होता है?

उत्तर—हाँ, लागू होता है। परन्तु उसके द्वारा भगवान्‌का चिन्तन (शुभ चिन्तन) होना बहुत कठिन है। कारण कि वह दुःखी होकर आत्महत्या करता है और उसका उद्देश्य सुखका रहता है। दूसरी बात, प्राण निकलते समय उसको अपने कियेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है, पर वह कुछ कर सकता नहीं! तीसरी बात, प्राण निकलते समय उसको भयंकर कष्ट होता है। चौथी बात, अगर उसका भाव शुद्ध हो, भगवान्‌पर विश्वास हो, वह भगवान्‌का चिन्तन करना चाहता हो तो वह

आत्महत्या-रूप महापाप करेगा ही क्यों? बुद्धि अशुद्ध होनेपर ही मनुष्य आत्महत्या करता है। इसलिये आत्महत्या करनेवालेकी दुर्गति होती है*॥ २८०॥

---

* अन्धं तमो विशेयुस्ते ये चैवात्महनो जनाः।
भुक्त्वा निरयसाहस्रं ते च स्युर्ग्रामसूकराः॥
आत्मघातो न कर्तव्यस्तस्मात् क्वापि विपश्चिता।
इहापि न परत्रापि न शुभान्यात्मघातिनाम्॥ (स्कन्दपुराण, काशी० १२। १३)

'आत्महत्यारे लोग घोर नरकोंमें जाते हैं और हजारों नरकयातनाएँ भोगकर फिर देहाती सूअरोंकी योनिमें जन्म लेते हैं। इसलिये समझदार मनुष्यको कभी भूलकर भी आत्महत्या नहीं करनी चाहिये। आत्मघातियोंका न इस लोकमें और न परलोकमें ही कल्याण होता है।'

वासुदेवःसर्वम्

प्रश्न—गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण किस प्रकारसे दीखते थे? क्या यही गीताका 'वासुदेवः सर्वम्' है?

उत्तर—गीताके '**वासुदेवः सर्वम्**' में सब जगह भगवान्‌को तत्त्वसे देखना है और गोपिकाओंका सब जगह भगवान्‌को देखना दृष्टिसे देखना है। गोपिकाओंकी आँखकी कनीनिकामें भगवान् कृष्णका चित्र अंकित हो गया था, इसलिये उनको सब जगह कृष्ण ही दीखते थे। जैसे कोई लाल रंगका चश्मा लगा ले तो उसको सब जगह लाल-ही-लाल दीखता है, ऐसे ही गोपिकाओंको सब जगह कृष्ण-ही-कृष्ण दीखते थे॥ २८१॥

प्रश्न—जब सब कुछ परमात्मा ही हैं—'वासुदेवः सर्वम्' तो फिर जड़ता किसमें है?

उत्तर—जड़ता जीवकी दृष्टिमें है—'**ययेदं धार्यते जगत्**' (गीता ७।५)। जड़ताका कारण है—अज्ञान॥ २८२॥

प्रश्न—राग छोड़नेसे 'वासुदेवः सर्वम्' का अनुभव होगा या अनुभव होनेपर राग छूटेगा?

उत्तर—राग छोड़ना भी साधन है और सबमें परमात्माको देखना भी साधन है। कर्मयोगी रागका त्याग करता है और भक्तियोगी सबमें परमात्माको देखता है। एककी सिद्धि होनेसे दोनोंकी सिद्धि हो जाती है॥ २८३॥

प्रश्न—रागके कारण प्राणी-पदार्थ भगवत्स्वरूप नहीं दीखते तो फिर जिन प्राणी-पदार्थोंमें हमारी आसक्ति नहीं है, वे भगवत्स्वरूप क्यों नहीं दीखते?

उत्तर—जबतक भीतरमें आसक्ति है, राग-द्वेष हैं, तबतक संसार ही दीखेगा। जब भीतरमें समता आ जायगी, तब '**वासुदेवः सर्वम्**' दीखेगा।

राग मूलमें अपनेमें है, प्राणी-पदार्थोंमें नहीं। गीताने रागके रहनेके पाँच स्थान बताये हैं—पदार्थ (३।३४), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि (३।४०) और अहम् (२।५९)। वास्तवमें राग खुद (अहम्) में ही है, पर वह पाँच स्थानोंमें दीखता है। खुदमें होनेसे ही राग प्राणी-पदार्थोंमें दीखता है। जब खुदमें राग नहीं रहेगा, तब सब जगह भगवान् ही दीखेंगे॥ २८४॥

प्रश्न—संसार विकृति है या भगवान्‌का स्वरूप है?

उत्तर—राग-द्वेषके कारण संसार विकृति है। यदि राग-द्वेष न हों तो यह भगवत्स्वरूप ही है। राग हटानेके लिये ही संसारको विकृति कहा गया है॥ २८५॥

प्रश्न—जड़ता बुद्धिमें है, अन्यथा सब संसार चिन्मय है—यदि ऐसी बात है तो फिर भगवान्‌के धाममें और संसारमें क्या फर्क रहा?

उत्तर—जैसे रामायणमें भगवान्‌ने कहा है—'*सातवँ सम मोहि मय जग देखा। मोतें संत अधिक करि लेखा॥*' (अरण्य० ३६।२)। ऐसे ही

संसार चिन्मय है, पर भगवान् उससे भी विलक्षण अर्थात् चिन्मयताके भी सार हैं। इसलिये उनको 'आनन्दकन्द' भी कहा जाता है॥२८६॥

प्रश्न—'वासुदेवः सर्वम्' के विषयमें दो प्रकारकी बातें सुनी जाती हैं—एक तो भगवान् हमारे सामने जिस रूपमें आयें, उसी रूपके अनुसार उनसे व्यवहार करना और दूसरी, भगवान् किसी भी रूपमें आयें, उनसे साक्षात् भगवान्‌की तरह ही व्यवहार करना; जैसे मीराबाईने सिंहकी आरती उतारी, नामदेवजी कुत्तेके पीछे घी लेकर भागे, आदि। हम किस बातको मानें?

उत्तर—मीरा, नामदेव आदिकी तरह व्यवहार करना सिद्धावस्थाकी बात है। साधकको तो मर्यादाके अनुसार यथायोग्य व्यवहार करना चाहिये। साधकको चाहिये कि बाहरसे यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी हृदयसे किसीको बुरा न समझे, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे॥ २८७॥

प्रश्न—संसारमें तो निरन्तर परिवर्तन होता है, फिर वह परमात्माका स्वरूप कैसे?

उत्तर—जैसे गिरगिट कई रंग बदलता है, पर रंग बदलनेपर भी गिरगिट वही रहता है और वे रंग गिरगिटके ही होते हैं। रंगोंको गिरगिटसे अलग नहीं कर सकते। ऐसे ही प्रकृति भगवान्‌की ही शक्ति है और शक्तिको शक्तिमान्‌से अलग नहीं कर सकते।

जैसे समुद्रके ऊपर लहरें चलती दीखती हैं, पर भीतरमें एक सम, शान्त समुद्र है। समुद्रके भीतर कोई लहर नहीं है। ऐसे ही संसार भी उस परमात्माकी ही लहरें हैं। अतः परिवर्तन भी परमात्माका स्वरूप है और अपरिवर्तन भी— **'सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)॥ २८८॥

प्रश्न—शक्ति (प्रकृति) तो शक्तिमान् (भगवान्)के अधीन होती है, फिर वह उसका स्वरूप कैसे हुई?

उत्तर—शक्ति शक्तिमान्‌से अलग नहीं होती; जैसे-नख, केश आदि

निष्प्राण चीजें भी हमारेसे अलग नहीं होतीं, प्रत्युत हमारा ही स्वरूप होती हैं। अतः परमात्मासे अलग प्रकृतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है॥ २८९॥

प्रश्न—जब सब संसार भगवत्स्वरूप ही है तो फिर दूसरेको उपदेश क्यों दिया जाता है?

उत्तर—दूसरेको उपदेश भी अपना मानकर ही दिया जाता है कि जैसे अपनेमें भूल है, वैसे ही दूसरेमें भी है। जैसे अपनेमें कमी दीखनेपर उसका सुधार करते हैं, ऐसे ही दूसरेकी कमीको भी अपनी ही कमी मानकर उसका सुधार करते हैं। अतः वास्तवमें उपदेश अपनेको ही दिया जाता है—'**उद्धरेदात्मनात्मानम्**' (गीता ६। ५)। दूसरेको उपदेश उसकी दृष्टिसे दिया जाता है; क्योंकि वह हमसे उपदेश चाहता है।

राग दो प्रकारसे मिटाया जाता है—विचारके द्वारा मिटाना अथवा करके मिटाना। अगर हमारी वासना उपदेश देनेकी, व्याख्यान देनेकी है तो उस वासनाको मिटानेके लिये भगवान् हमारे सामने अज्ञानी बनकर, श्रोता बनकर आते हैं। राजा बनकर शासन करनेकी वासना है तो भगवान् प्रजा बनकर आते हैं॥ २९०॥

प्रश्न—समता और 'वासुदेवः सर्वम्'—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—समतामें अपने मतका संस्कार (सूक्ष्म अहम्) रहता है, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' में कोई मतभेद नहीं रहता; क्योंकि इसमें सब मत-मतान्तर भी वासुदेव ही हैं। समतामें तो स्वरूपकी मुख्यता है, पर '**वासुदेवः सर्वम्**' में भगवान्‌की मुख्यता है॥ २९१॥

प्रश्न—एक बात यह कही जाती है कि संसार (जड़) भी परमात्माका ही स्वरूप है और एक बात यह कही जाती है कि संसार तो हमारी दृष्टिमें है, वास्तवमें संसार है ही नहीं, प्रत्युत सत्तारूपसे एक परमात्मा ही हैं। दोनोंमें कौन-सी बात मानें?

उत्तर—जबतक हमारी दृष्टिमें संसारकी सत्ता है, तबतक यह मानना

चाहिये कि संसार परमात्माका ही स्वरूप है। अगर हम संसारकी सत्ता न मानें तो एक परमात्माके सिवाय कुछ नहीं है।

संसाररूपसे भी वही है और सत्तारूपसे भी वही है; क्योंकि वास्तवमें संसार है नहीं। सत्‌से ही असत्‌का भान होता है। सत्‌के बिना असत्‌का भान ही नहीं होता। ज्ञानी और परमात्माकी दृष्टिमें संसार है ही नहीं। संसार तो जीवकी दृष्टिमें है। कारण कि संसारकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं॥ २९२॥

प्रश्न—संसार (जड़) न दीखकर केवल परमात्मा कैसे दीखें?

उत्तर—संसार दीखता है तो दीखता रहे, हर्ज क्या है? देखना सीमित होता है, तत्त्व असीम है। सूर्य थालीकी तरह दीखता है तो क्या वह ऐसा ही है? दीखना व्यक्तिगत है। जो व्यक्तिगत होता है, वह सिद्धान्त नहीं होता। दीखनेवाला और देखनेवाला—सबका अभाव हो जायगा और परमात्मतत्त्व शेष रह जायगा। दीखना और देखना उसी तत्त्वके अन्तर्गत है। अतः दीखने-देखनेका आग्रह नहीं रखना चाहिये॥ २९३॥

प्रश्न—संसारको भगवान्‌का आदि अवतार कहा गया है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (श्रीमद्भा० २। ६। ४१), फिर संसार असत्य कैसे हुआ?

उत्तर—भगवान्‌का अवतार सत्य है, संसार सत्य नहीं है॥ २९४॥

प्रश्न—क्या सभी भक्तोंको अन्तमें 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) का अनुभव हो जाता है?

उत्तर—सबको नहीं होता, प्रत्युत उसको होता है, जिसमें अपने मत (भक्ति) का आग्रह नहीं है, अपनी मान्यतामें सन्तोष नहीं है। अगर वह ज्ञानको हीन दृष्टिसे देखता है तो उसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव नहीं होता॥ २९५॥

प्रश्न—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य० ३। १४। १) और

'वासुदेवः सर्वम्' (गीता ७। १९)—दोनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' में निर्गुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध है। परन्तु '**वासुदेवः सर्वम्**' में सगुणकी मुख्यता है तथा इसमें असत्‌का निषेध नहीं है।

सगुणमें तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणमें सगुण नहीं आ सकता। निर्गुणमें गुणोंका निषेध ही कर दिया, फिर गुण कैसे आयें? सगुण सब गुणोंका आश्रय है, पर वह किसी गुणके आश्रित, गुणसे आबद्ध नहीं है। भगवान्‌ने भी सगुणको 'समग्र' कहा है—'**असंशयं समग्रं माम्**' (गीता ७। १)। समग्रमें सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार और जड़-चेतन, सत्-असत् आदि सब कुछ आ जाता है॥ २९६॥

प्रश्न—एक बात है कि 'सब कुछ भगवान् ही हैं' और एक बात है कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'—दोनोंमें हम किस बातको मानें?

उत्तर—पहले यह मानो कि 'हम भगवान्‌के हैं, भगवान् हमारे हैं'। इस बातको माननेसे ही यह अनुभव हो जायगा कि 'मैं नहीं हूँ, भगवान् ही हैं'॥ २९७॥

प्रश्न—अनेकता 'है' में है या 'नहीं' में?

उत्तर—एकमें ही अनेकता है अर्थात् 'है' में ही अनेकता है। 'है' के सिवाय किसीकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। 'है' में सब एक हैं। 'है' में अनेकताका निषेध नहीं है, प्रत्युत अन्य सत्ताका निषेध है॥ २९८॥

विवेक

प्रश्न—विवेक किस उपायसे बढ़ता है?

उत्तर—अगर मनुष्य विवेकका आदर करे अर्थात् विवेक-विरुद्ध कार्य न करे तो उसका विवेक गुरु आदिकी सहायताके बिना स्वत: बढ़ जाता है। अगर वह जान-बूझकर न करनेलायक काम करेगा तो विवेक नहीं बढ़ेगा। विवेक-विरुद्ध कार्य करनेसे विवेकका बढ़ना रुक जाता है॥ २९९ ॥

प्रश्न—विवेककी आवश्यकता कहाँतक है?

उत्तर—जड़ पदार्थोंके संयोगसे होनेवाले सुखके त्यागतक। तात्पर्य है कि विवेककी आवश्यकता जड़का आकर्षण (राग, आसक्ति) मिटानेमें है। इसलिये विवेकसे वैराग्य होता है। विवेकका आदर इतना होना चाहिये कि जड़ताका आकर्षण सर्वथा मिट जाय॥ ३०० ॥

प्रश्न—विचार और विवेकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—विचारमें ऊहापोह होता है कि यह नित्य कैसे है, यह अनित्य कैसे है, आदि। परन्तु विवेकमें नित्य और अनित्य आदि दो वस्तुओंका विश्लेषण होता है। जबतक विवेक पुष्ट नहीं होता, तबतक उसके साथ विचार रहता है। विवेक पुष्ट होनेपर विचार नहीं रहता, प्रत्युत केवल विवेक रहता है॥ ३०१ ॥

संकल्प

प्रश्न—संकल्प किये बिना कोई भी कार्य कैसे किया जायगा?

उत्तर—वास्तवमें कर्म करनेकी स्फुरणा अथवा विचार होता है, संकल्प नहीं होता। संकल्प वह होता है, जिसमें अपनी आसक्ति, ममता और आग्रह रहता है। कार्य करनेकी स्फुरणा अथवा विचार बाँधनेवाला नहीं होता, पर संकल्प बाँधनेवाला होता है॥ ३०२॥

प्रश्न—भगवान् भी जब संकल्प करते हैं, तभी सृष्टि पैदा होती है तो क्या यह संकल्प बाँधनेवाला नहीं होता?

उत्तर—भगवान्‌के संकल्पमें न आसक्ति है, न आग्रह है, न अपने लिये कुछ पानेकी इच्छा है। अत: वास्तवमें यह संकल्प नहीं है, प्रत्युत स्फुरणा है। स्फुरणामात्रको ही संकल्प नामसे कहा गया है॥ ३०३॥

प्रश्न—क्रियामात्र प्रकृतिमें होती है, पर कुछ क्रियाएँ हम संकल्पपूर्वक करते हैं; जैसे—भोजन स्वत: पचता है, पर हम भोजन करनेका संकल्प करते हैं, तब भोजन करते हैं। यह संकल्प अपनेमें हुआ?

उत्तर—वास्तवमें संकल्प भी प्रकृतिमें ही होता है, स्वयंमें नहीं। संकल्पका आधार है—अज्ञान, अविवेक। विवेक स्पष्ट न होनेसे मनुष्य अपनेमें संकल्प मानता है, अपनेको कर्ता मानता है। संकल्पसे फिर कामना पैदा होती है। मन-बुद्धिके साथ अपनी एकता माननेसे ही संकल्प-विकल्प अपनेमें दीखते हैं।

भूख प्राणोंका धर्म है, स्वयंका नहीं। प्राणोंके साथ तादात्म्य होनेसे ऐसा मालूम होता है कि भूख मेरेको लगी है और 'मैं भोजन करूँ'—ऐसा संकल्प होता है। भोजन प्राणोंके पोषणके लिये होता है, स्वयंके पोषणके लिये नहीं। यदि प्राणोंके साथ तादात्म्य न करें तो स्फुरणा होगी, संकल्प नहीं होगा॥ ३०४॥

प्रश्न—सन्तोंकी वाणीमें आता है कि भगवान् सत्य संकल्पको पूरा करते हैं, इसका तात्पर्य है?

उत्तर—सत्य-तत्त्व (परमात्मा)-की प्राप्तिका संकल्प ही सत्य संकल्प है, जिसको भगवान् पूरा करते हैं। असत् (संसार)-का संकल्प पूरा होने अथवा न होनेमें प्रारब्ध कारण है॥ ३०५॥
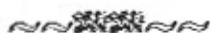
सन्त-महात्मा (दे० जीवन्मुक्त)

प्रश्न—साधु, सन्त और महात्मा—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो साधनमें तत्पर है, वह 'साधु' है। जिसने साधन करके अनुभव कर लिया है और जिसकी वाणी, आचरण आदि सबमें सत्-तत्त्व उद्भासित होता है, वह 'सन्त' है। जिसकी दृष्टिमें मैं-मेरे, तू-तेरेका भेद नहीं रहा, जिसका सब प्राणियोंके प्रति समान भाव हो गया, वह 'महात्मा' है।

गृहस्थ, संन्यासी आदि सभी वर्ण, आश्रम, देश, वेश आदिके व्यक्ति साधु, सन्त या महात्मा हो सकते हैं। गेरुआ वस्त्रधारियोंके वेशमें ज्यादा साधु, सन्त, महात्मा हो चुके हैं, इसलिये इस वेशको लेकर भी लोग साधु, सन्त, महात्मा कह देते हैं॥ ३०६ ॥

प्रश्न—महात्मा शरीर छूटनेपर सर्वव्यापी होता है या पहले?

उत्तर—वह सर्वव्यापी तो मुक्त होते ही हो जाता है। केवल लोगोंकी दृष्टिमें देहका आवरण दीखता है॥ ३०७ ॥

प्रश्न—फिर शरीर छूटनेके बाद उनका प्रचार अधिक क्यों होता है?

उत्तर—शरीरके रहते हुए उनका मत एक व्यक्तिका दीखता है। परन्तु शरीर छूटनेके बाद व्यक्तिका मत न दीखकर केवल सिद्धान्त दीखता है। मतकी अपेक्षा सिद्धान्तका लोगोंमें अधिक प्रचार होता है। व्यक्तिको लेकर मत होता है और तत्त्वको लेकर सिद्धान्त होता है॥ ३०८ ॥

प्रश्न—सन्त-महात्माको कोई आदेश देना हो तो स्वप्नमें क्यों देते हैं?

उत्तर—जाग्रत्‌में वे आज्ञा दें और वह उसको न माने तो पाप लगेगा, इसलिये वे स्वप्नमें आज्ञा देते हैं। स्वप्नमें दी गयी आज्ञा अगर न माने तो पाप नहीं लगेगा और माने तो लाभ होगा॥ ३०९ ॥

प्रश्न—भगवान्‌की लीलाको देखनेसे जो मोह होता है, वह तो

लीलाके श्रवणसे दूर हो जाता है। परन्तु सन्तोंकी लीला (आचरण) देखनेसे जो मोह होता है, वह किस उपायसे दूर होता है?

उत्तर—सन्तोंकी लीला देखनेसे जो मोह होता है, उसके नाशका उपाय है—उनकी तात्त्विक बातोंकी तरफ ध्यान दे, उनके आचरणोंकी तरफ नहीं। कारण कि उनके आचरण देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार तथा सामनेवाले व्यक्तिके भावके अनुसार होते हैं, जिनको हम पूरा नहीं समझ सकते॥ ३१०॥

प्रश्न—तेज बुखारमें भी सन्तोंको आनन्द क्यों होता है?

उत्तर—कारण कि उनकी दृष्टि लाभपर रहती है कि हमारे पाप कट रहे हैं! जैसे, काँटा निकालते समय पीड़ा होती है तो वह बुरी नहीं लगती। स्त्री प्रसवकी पीड़ाको भी प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेती है कि पुत्र हुआ है!॥ ३११॥

प्रश्न—सन्तोंको राजनीतिमें आना चाहिये या नहीं?

उत्तर—यदि शासकलोग अपने पदका दुरुपयोग करते हों तो सन्तोंको राजनीतिमें आना ही चाहिये। अगर स्वार्थभाव न हो और केवल परहितका भाव हो तो राजनीति बाधक नहीं है॥ ३१२॥

प्रश्न—सन्तोंमें परस्पर संगठन कैसे हो?

उत्तर—सन्तोंमें संगठन तभी होगा, जब सबका उद्देश्य एक ही हो। यदि उनमें बाहरसे एकता करना चाहें तो वह नहीं हो सकती; क्योंकि बाहरसे सब अलग-अलग विधियोंका पालन करते हैं। अतः सन्तोंको चाहिये कि वे अपने सिद्धान्तपर, अपने उद्देश्यपर दृढ़ रहें॥ ३१३॥

प्रश्न—सन्त-महात्मा उपदेश देते हैं तो उनकी क्या दृष्टि रहती है?

उत्तर—वे लोगोंकी दृष्टिमें उनको उपदेश देते हैं, उनको भगवान्‌में लगाते हैं। परन्तु उनकी अपनी दृष्टिमें एक भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं—'**वासुदेवः सर्वम्**'। जिस स्थितिमें सामान्य लोग हैं, उसी स्थितिमें उतरकर वे उपदेश देते हैं॥ ३१४॥

प्रश्न—एक बात आती है कि सन्त दूसरोंके दुःखसे दुःखी होते हैं और एक बात आती है कि सन्त वास्तवमें न अपने दुःखसे दुःखी होते हैं, न दूसरोंके दुःखसे—इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—जैसे समुद्रके ऊपर लहरें उठती हैं, पर समुद्रके भीतर लहरें नहीं हैं, ऐसे ही सन्त व्यवहारमें सुखी-दुःखी होते दीखते हैं, पर भीतर (तत्त्व)-से वे न सुखी होते हैं, न दुःखी। वे दूसरोंके दुःखसे दुःखी नहीं होते, प्रत्युत उनका दुःख दूर करनेकी चेष्टा करते हैं॥ ३१५॥

प्रश्न—किसी सन्तसे उनके अनुभवकी बात पूछनी चाहिये या नहीं?

उत्तर—पारमार्थिक विषयमें अनुभवकी बात पूछना और अनुभवकी बात कहना—दोनों ही उचित नहीं हैं। लौकिक विषयमें भी यह पूछना कि 'तुम्हारे पास कुल कितने रुपये हैं' असभ्य माना जाता है। मेरे पास बैंकमें इतने रुपये हैं—यह भी कोई नहीं बताता। यह पूछने-कहनेकी बात ही नहीं है। क्या भगवान् रुपयेसे भी रद्दी हैं?

दूसरी बात, जो अनुभवकी बात पूछता है, उसमें उस सन्तके प्रति अश्रद्धा रहती है। अगर कुछ अश्रद्धा, अविश्वास, सन्देह न हो तो वह पूछता ही क्यों? सन्त उत्तर दे कि हाँ, मेरेको परमात्मतत्त्वका अनुभव हुआ है तो उससे पूछनेवालेके मनमें अश्रद्धा ही पैदा होगी कि ये आत्मश्लाघा करते हैं। अगर सन्त कहे कि अनुभव नहीं हुआ तो भी अश्रद्धा ही होगी।* अतः अनुभवकी बात पूछनेसे पूछनेवालेकी हानि

---

* उपनिषद्में शिष्य अपने गुरुके प्रति कहता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥ (केन० २। २)

'मैं तत्त्वको भलीभाँति जान गया हूँ—ऐसा मैं नहीं मानता और न ऐसा ही मानता हूँ कि मैं तत्त्वको नहीं जानता; क्योंकि जानता भी हूँ। मैं तत्त्वको जानता हूँ अथवा नहीं जानता हूँ—ऐसा सन्देह भी नहीं है। हममेंसे जो कोई भी उस तत्त्वको जानता है, वही मेरे उक्त वचनके तात्पर्यको जानता है।'

(अश्रद्धा) ही होती है, लाभ नहीं होता।

तीसरी बात, अनुभवी महापुरुषकी दृष्टिमें कोई भी व्यक्ति अज्ञानी नहीं होता। उनकी दृष्टिमें ज्ञानी-अज्ञानीका भेद होता ही नहीं। उनकी दृष्टिमें ज्ञान सबमें है, पर बेचारे समझते नहीं। मैं हूँ—ऐसे अपनी सत्ताको सभी मानते हैं, पर भूलसे शरीरको लेकर सत्ता मानते हैं। वास्तवमें ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत अज्ञानका नाश होता है। ज्ञान तो स्वतःसिद्ध है। इसलिये अनुभव होनेपर ऐसा नहीं दीखता कि पहले नहीं था, अब अनुभव हुआ है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक दीखता है कि यह तो पहलेसे ही है, नया क्या हुआ?

पूछनेवाला तो अनुभवकी बात पूछ लेता है, पर अनुभवी सन्त इसका उत्तर कैसे दे? अगर वह कहे कि मेरेको अनुभव हो गया तो असत्यका दोष लगेगा; क्योंकि वह ऐसा मानता ही नहीं कि मेरेको अनुभव हुआ है, दूसरोंको नहीं। उपनिषद्‌में आया है कि जब राजा जनकने कहा कि ये एक हजार गायें हैं, जो ब्रह्मज्ञानी हो, वह इनको ले जाय, तब याज्ञवल्क्यजी खड़े हो गये और अपने शिष्यसे बोले कि इन गायोंको ले चलो। राजा जनकके होता अश्वलने पूछा कि क्या सबमें तुम ही ब्रह्मज्ञानी हो? तब याज्ञवल्क्यजीने कहा कि ब्रह्मज्ञानीको तो हम नमस्कार करते हैं, हमें तो गायोंकी जरूरत है, इसलिये उनको ले जाता हूँ, अगर तुम्हें कोई शंका हो तो प्रश्न करो॥ ३१६॥

१२. प्रश्न—सच्चा सन्त कौन है?

उत्तर—जो अपना उद्धार कर चुका है और दूसरेका उद्धार करनेके सिवाय जिसमें दूसरी कोई इच्छा नहीं है। जिसमें स्वार्थकी गंध भी नहीं है। जिसको सिवाय उद्धारके संसारसे और कोई मतलब नहीं, कुछ लेना नहीं॥ ३१७॥

संसार (दे० सुखासक्ति)

प्रश्न—सूक्ष्म जगत् और कारण जगत् क्या है?

उत्तर—प्राणिमात्रके (समष्टि) सूक्ष्मशरीर मिलकर सूक्ष्म जगत् और कारणशरीर मिलकर कारण जगत् कहलाता है॥ ३१८॥

प्रश्न—संसारका असर न पड़े—इसके लिये क्या करें?

उत्तर—संसारका असर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंपर पड़ता है, अपनेपर नहीं—इस तरफ खयाल रखें। संसारका असर सदा रहेगा नहीं, मिट जायगा, इसलिये इसकी परवाह न करें। मैं उससे अलग हूँ—इस तरफ दृष्टि रखें तो उसकी जड़ कट जायगी।

हम परमात्माके अंश हैं, इसलिये हमारा सम्बन्ध परमात्माके साथ है। संसारमें कोई भी वस्तु व्यक्तिगत नहीं है। शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि प्रकृतिके अंश हैं, इसलिये उनका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ है, हमारे साथ नहीं॥ ३१९॥

प्रश्न—नाशवान्‌में आकर्षण होनेका कारण क्या है?

उत्तर—इसका कारण है—अज्ञान, मूर्खता। अज्ञान यह है कि संसारके सम्बन्धसे होनेवाले दुःखको संसारके सम्बन्धसे ही मिटाना चाहते हैं॥ ३२०॥

प्रश्न—सांसारिक रुचिका नाश कैसे हो?

उत्तर—जितना सुख लिया है, उससे कुछ अधिक दुःख हो जाय तो रुचि नष्ट हो जायगी। यह दुःख होगा विचारसे अथवा सत्संगसे। इनसे भी न हो तो भगवान्‌से प्रार्थना करे। विचारसे यह रुचि उतनी जल्दी नहीं छूटती, जितनी जल्दी दूसरोंको सुख देनेसे अथवा भगवान्‌के शरण होकर उनको पुकारनेसे छूटती है। जिनकी भगवान्‌में रुचि है, भोगोंमें रुचि नहीं है, उनके पास बैठनेसे भी रुचि मिटती है॥ ३२१॥

प्रश्न—भगवान् सांसारिक रुचि क्यों नहीं छुड़ाते ?

उत्तर—भगवान् अपनी तरफसे किसीके सुखको नहीं छुड़ाते। यह

काम चोर-डाकुओंका है!॥ ३२२॥

प्रश्न—हम रुचि छोड़ना चाहते ही हैं, फिर भगवान् क्यों नहीं छुड़ाते ?

उत्तर—सांसारिक रुचि तो अधिक है, पर उसको छोड़नेकी चाहना कमजोर है, तभी भगवान् नहीं छुड़ाते॥ ३२३॥

प्रश्न—संसारका खिंचाव मिटानेका बढ़िया उपाय क्या है?

उत्तर—विषयोंका सेवन रागपूर्वक न करे, पर भजन रागपूर्वक(प्रेमपूर्वक) करे। विषयोंका सेवन करते समय, भोग भोगते समय हृदयको कठोर रखे अर्थात् भोगोंमें रस न ले, उनसे निर्लिप्त रहे। कारण कि जैसे पिघले हुए मोममें रंग डालनेसे रंग उसके भीतर बैठ जाता है, ऐसे ही हृदय द्रवित होनेपर वे विषय भीतर बैठ जाते हैं॥ ३२४॥

प्रश्न—जो प्रत्यक्ष दीख रहा है, उस संसारका सर्वथा अभाव कैसे मानें?

उत्तर—जो दीखता है, उसकी सत्ता होती है—यह आवश्यक नहीं है। मृगतृष्णाका जल दीखता है, दर्पणमें मुख दीखता है, रस्सीमें साँप दीखता है तो क्या उसकी सत्ता है?

विचारपूर्वक देखें तो संसारका पहले भी अभाव था, पीछे भी अभाव हो जायगा और वर्तमानमें भी इसका प्रतिक्षण अभाव हो रहा है। जो प्रतिक्षण बदल रहा है, उसकी सत्ता कैसे स्वीकार करें? उत्पत्ति-विनाशका प्रवाह ही वर्तमानमें स्थिति रूपसे दीख रहा है। जैसे पहले कभी महाभारतकी घटनाएँ वर्तमानमें थीं और बड़ी ठोस दीखती थीं, पर आज वे हैं क्या? आज केवल उनकी कथा शेष रह गयी है। ऐसे ही अभी जो वर्तमानमें दीखता है, यह भी नहीं रहेगा।

बीजसे अंकुर बनता है, अंकुरसे पौधा बनता है, पौधेसे वृक्ष बनता है, फिर उसमें पुष्प और फल लगते हैं—इस प्रकार संसारमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। अंकुर बना तो बीज नहीं रहा, पौधा बना तो अंकुर नहीं रहा, वृक्ष बना तो पौधा नहीं रहा! तात्पर्य है कि संसारमें

स्थिति नामकी कोई चीज है ही नहीं।

संसारका तो अभाव ही है, वह दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या! दर्पणमें मुख दीखे तो क्या और न दीखे तो क्या!॥ ३२५॥

प्रश्न—संसारकी सत्ताका अभाव करें अथवा उससे अपना सम्बन्ध न मानें?

उत्तर—एक ही बात है। सत्ताका अभाव करनेकी अपेक्षा अपना सम्बन्ध न मानना सुगम और श्रेष्ठ है। संसार सत् हो या असत्, उससे हमारा कोई मतलब नहीं। जैसे, स्वप्नकी सृष्टि है तो ठीक, नहीं है तो ठीक, उससे अपना क्या मतलब? एक-दो नहीं, चौरासी लाख योनियाँ बीत गयीं, पर हम वही एक रहे। जब चौरासी लाख योनियोंसे हमारा सम्बन्ध नहीं रहा तो फिर इस एक शरीरसे सम्बन्ध कैसे रहेगा? सम्बन्ध रहना सम्भव ही नहीं है॥ ३२६॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप सत्तामात्र है, सत्तामात्रमें ही हमारी स्थिति है—ऐसा जानते हुए भी संसारमें आकर्षण हो जाय तो साधक क्या करे?

उत्तर—संसारमें आकर्षण हो गया—यह नुकसान नहीं हुआ, प्रत्युत उस आकर्षणको सच्चा मान लिया—यह नुकसान हुआ है! आकर्षण तो मिट जायगा, पर सत्ता रह जायगी। वास्तवमें आकर्षण होना भी मिटनेका नाम है और आकर्षण न होना भी मिटनेका नाम है। आकर्षणको महत्त्व दे दिया—यही बीमारी है!

प्रत्येक सांसारिक भोगमें रुचि भी होती है और अरुचि भी होती है। रुचिको स्थायी रखना और अरुचिको स्थायी न रखना भूल है। इस भूलका कारण है—मूर्खता॥ ३२७॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध किसपर टिका हुआ है?

उत्तर—सुख-लोलुपतापर॥ ३२८॥

प्रश्न—संसारके साथ माना हुआ सम्बन्ध झूठा होते हुए भी दृढ़ कैसे हो गया?

उत्तर—संयोगजन्य सुखकी लोलुपताके कारण झूठी मान्यता भी दृढ़ हो गयी। कारण कि सांसारिक सुख आरम्भमें अमृतकी तरह दीखता है—'**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्**' (गीता १८। ३८), इसलिये मनुष्य उसमें फँस जाता है, उसकी विचारशक्ति नष्ट हो जाती है, वह अन्धा हो जाता है!॥ ३२९॥

प्रश्न—इस सुखलोलुपताको छोड़नेका उपाय क्या है?

उत्तर—उपाय है—सत्संग॥ ३३०॥

प्रश्न—संसारका आश्रय छोड़नेमें निर्बलता क्यों मालूम देती है?

उत्तर—क्योंकि संसारसे सुख लेते हैं॥ ३३१॥

प्रश्न—सुख छोड़नेमें भी निर्बलता मालूम देती है, क्या करें?

उत्तर—यह निर्बलता दूसरोंको सुख देनेसे छूटेगी। मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये है ही नहीं—'*एहि तन कर फल बिषय न भाई*' (मानस, उत्तर० ४४। १)॥ ३३२॥

प्रश्न—असत्‌की सत्ता ही नहीं है—ऐसा जानते हुए भी उसका त्याग कठिन क्यों हो रहा है?

उत्तर—हम विचारके समय तो संसारको असत् मानते हैं, पर अन्य समय असत्‌के संगका सुख भोगते हैं। इस सुखासक्तिके कारण ही असत्‌के त्यागमें कठिनता मालूम देती है। असत्‌में स्थायीपना है नहीं, पर सुखलोलुपता उसको स्थायी दिखाती है॥ ३३३॥

प्रश्न—संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है अथवा संसारकी सत्ता ही नहीं है?

उत्तर—दूसरी सत्ताको मानें तो संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है और दूसरी सत्ताको न मानें तो संसारकी सत्ता है ही नहीं। संसारकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है—यह साधककी बात है। संसारकी सत्ता ही नहीं है—यह सिद्धकी बात है॥ ३३४॥

प्रश्न—जो जाननेमें आता है, वह सब जड़ संसार है; क्योंकि

उसमें त्रिपुटी है। भगवान् या स्वयं (आत्मा) जाननेमें आते हैं तो वे भी जड़ हुए ?

उत्तर—भगवान् जाननेमें नहीं आते, प्रत्युत माननेमें आते हैं। माननेमें श्रद्धा-विश्वास मुख्य हैं, त्रिपुटी मुख्य नहीं है। स्वयं (अपना होनापन) भी जाननेमें नहीं आता, प्रत्युत अनुभवमें आता है। अनुभवमें त्रिपुटी नहीं होती॥ ३३५॥

प्रश्न—संसारसे माना हुआ सम्बन्ध कब छूटेगा ?

उत्तर—जब हम अचाह और अप्रयत्न हो जायँगे, तब छूटेगा। कारण कि संसारका स्वरूप है—पदार्थ और क्रिया। अचाह होनेसे पदार्थका सम्बन्ध छूट जायगा और अप्रयत्न होनेसे क्रियाका सम्बन्ध छूट जायगा। हम अचाह और अप्रयत्न तब होंगे, जब हम इस सत्यको स्वीकार कर लेंगे कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मेरा कुछ भी नहीं है॥ ३३६॥

प्रश्न—परिवर्तनकी आसक्ति कैसे मिटे ?

उत्तर—उसको मिटाना नहीं है, प्रत्युत वह तो स्वतः मिट रही है। बढ़िया उपाय है—उसकी उपेक्षा कर दें, उसको पकड़ें नहीं। उसको सत्ता और महत्ता देकर मिटानेकी चेष्टा करना ही गलती है॥ ३३७॥

प्रश्न—संसार अच्छा नहीं लगता, फिर भी भोगोंमें फँस जाते हैं! क्या करें ?

उत्तर—वास्तवमें संसार ही अच्छा लगता है। यदि संसार बुरा लगे तो भोगोंमें फँस सकते ही नहीं॥ ३३८॥

सत्संग

प्रश्न—सन्तोंका संग प्रारब्धसे मिलता है या भगवत्कृपासे?

उत्तर—सन्त प्रारब्धसे भी मिलते हैं—*'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता'* (मानस, उत्तर० ४५। ३), भगवत्कृपासे भी मिलते हैं—*'जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये'* (विनय० १३६। १०) और अपनी लगनसे भी मिलते हैं—*'जेहि कें जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू॥'* (मानस, बाल० २५९। ३)। परन्तु उनसे लाभ उठानेमें हमारी सच्ची लगन (उत्कट अभिलाषा) ही मुख्य है अर्थात् उनसे लाभ उठाना हमारे हाथकी बात है॥ ३३९॥

प्रश्न—सत्संगका स्वरूप क्या है?

उत्तर—सत्-तत्त्व (परमात्मा)-में निष्काम प्रेम होना भी सत्संग है और जीवन्मुक्त सन्तके साथ निष्काम प्रेम भी सत्संग है। जीवन्मुक्त सन्तके पास बैठना भी सत्संग है। संसारसे विमुख होना भी सत्संग है। तात्पर्य है कि हम किसी भी प्रकारसे भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ तो यह सत्संग है॥ ३४०॥

प्रश्न—*'तुलसी संगत साधु की, कटै कोटि अपराध'*—साधुकी संगत क्या है?

उत्तर—साधुकी असली संगत है—साधुके साथ अभिन्न हो जाना। अभिन्न होनेका तात्पर्य है—उनकी बातको तत्परतासे सुनकर उसी क्षण उसमें स्थित हो जाय। उनकी बातको भविष्यके लिये, अभ्यासपर मत छोड़े। अगर उनकी बातमें कोई विकल्प, सन्देह हो तो उसी समय पूछ ले अथवा एकान्तमें विचार करके उसको दृढ़ कर ले॥ ३४१॥

प्रश्न—संसारी व्यक्ति भी सत्संगमें चले जाते हैं और साधक भी सत्संगमें नहीं जाते, प्रत्युत घरमें रहकर भजन करते हैं, इसका क्या कारण है?

उत्तर—संसारी व्यक्तिको भी सत्संग मिलता है तो यह भगवान्‌की कृपा है और साधक भी सत्संग नहीं करता तो यह उसकी लगनकी कमी है। परन्तु सत्संग मिलनेपर भी संसारी व्यक्ति सत्संगसे विशेष लाभ नहीं उठा सकता और साधक यदि सत्संग करे तो विशेष लाभ उठा सकता है। कारण कि साधन करना खुद कमाकर धनी बनना है और सत्संग करना धनीकी गोद जाना है। गोद जानेसे कमाया हुआ धन मिलता है!॥ ३४२॥

प्रश्न—सत्संग करनेसे किसीका तो जीवन बदल जाता है, किसीका नहीं बदलता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—एक सुदुराचारी होता है और एक दुर्दुराचारी होता है। सुदुराचारीपर तो सत्संगका असर पड़ता है, पर दुर्दुराचारीपर सत्संगका असर नहीं पड़ता—‘***पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ॥***’ (मानस, सुन्दर० ४४। २)।

ये चार लक्षण जिसमें हों, उसपर सत्संगका असर नहीं पड़ता— (१) अभिमान, (२) दूसरेकी बात न सह सकना, (३) अज्ञता और (४) कुतर्क। ऐसे व्यक्तिके सुधारका एक ही उपाय है—आफत! जब आफत आयेगी, तभी उसको चेत होगा—‘**मूर्खाणां औषधं दण्डः**’॥३४३॥

प्रश्न—सत्संगकी महिमा वैकुण्ठकी प्राप्तिसे भी अधिक क्यों कही गयी है?

उत्तर—सत्संग वैकुण्ठकी प्राप्ति करानेवाला है। प्राप्य वस्तुकी अपेक्षा प्रापककी विशेष महिमा होती है। सत्संगमें उनको भी लाभ मिलता है, जो वैकुण्ठमें नहीं गये। वैकुण्ठकी प्राप्ति होनेसे सत्संग (सन्त-समागम) मिल जाय—यह नियम नहीं है, पर सत्संग मिलनेसे वैकुण्ठकी प्राप्ति हो ही जाती है॥ ३४४॥

प्रश्न—कुछ व्यक्ति सत्संग करते-करते उसे छोड़ देते हैं तो इसमें क्या प्रारब्ध कारण है?

उत्तर—प्रारब्ध कारण नहीं है। इसमें दो कारण हैं—जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखना और कुसंग करना। अपने भीतर कमी (कुसंस्कार) होती है, तभी कुसंगका असर पड़ता है। जैसे, जिसके भीतर स्त्रीकी आसक्ति है, उसीपर स्त्रीके संगका असर पड़ता है। जिसके भीतर धनकी आसक्ति है, उसीपर धन और धनीका असर पड़ता है।

जिसका सत्संग करते हैं, उसमें अवगुण देखनेपर भी लोक-लाजके भयसे सम्बन्ध बनाये रखना ठीक नहीं है। इससे लाभ नहीं होता। अतः ऐसी अवस्थामें उनकी निन्दा न करके चुपचाप अलग हो जाना चाहिये। फिर किसीसे सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिये॥ ३४५॥

प्रश्न—मनुष्यपर प्रायः सत्संगका असर तो कम पड़ता है, पर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है, इसका क्या कारण है?

उत्तर—जिसके भीतर कुसंगके संस्कार हैं, उसपर कुसंगका असर ज्यादा पड़ता है और जिसके भीतर सत्संगके संस्कार हैं, उसपर सत्संगका असर ज्यादा पड़ता है। कारण कि सजातीयता (समान जाति)-में ही खिंचाव होता है। इसलिये मनुष्यको चाहिये कि सत्संग, सत्-शास्त्र आदिके द्वारा अपने भीतर अच्छे संस्कारोंको भरे॥ ३४६॥

प्रश्न—सत्संग कैसे सुनें कि फिर उसे भूलें नहीं?

उत्तर—(१) वक्ता क्या सुनाता है और क्या सुनाना चाहता है—इसपर गहरा विचार करें (२) सुननेके साथ-साथ उसपर मनन करते जाना चाहिये, जिससे बादमें हम दूसरोंको भी सुना सकें (३) जो सुना है, उसको काममें लानेकी चेष्टा करनी चाहिये (४) सत्संग सुननेवालोंको आपसमें बैठकर सुने हुए सत्संगकी चर्चा करनी चाहिये॥ ३४७॥

साधक

प्रश्न—साधकका कर्तव्य क्या है?

उत्तर—साधकका कर्तव्य है—साध्यसे प्रेम करना और असाधनका त्याग करना। चाह-रहित होना साधन है और किसीसे कुछ भी चाहना असाधन है॥ ३४८॥

प्रश्न—साधक अपनी लगन (भूख) कैसे बढ़ाये?

उत्तर—लगन विचारसे बढ़ती है। विचार करना चाहिये कि नाशवान् पदार्थोंके साथ हम कबतक रहेंगे? ये वस्तुएँ और व्यक्ति हमारे साथ कबतक रहेंगे? इसी चालसे साधन चलेगा तो सिद्धि कब होगी? अबतक जितने समयमें जितना लाभ हुआ है, उसी गतिसे साधन करनेपर और कितना समय लगेगा? आगे जीवनका क्या भरोसा है? आदि-आदि॥ ३४९॥

प्रश्न—साधकको विशेष ध्यान किसपर देना चाहिये, असाधनको हटानेपर अथवा जप, ध्यान आदि साधन करनेपर?

उत्तर—असाधनको हटानेपर विशेष ध्यान देना चाहिये। असाधन है—नाशवान्‌का सम्बन्ध। जप, ध्यान आदि साधन करनेसे साधक सन्तोष कर लेता है कि मैंने इतना जप कर लिया, इतना ध्यान कर लिया, आदि। यह सन्तोष साधकके लिये बाधक होता है॥ ३५०॥

प्रश्न—सज्जन और साधकमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जिसमें दैवी-सम्पत्तिके गुण हैं, जिसके आचरण और विचार अच्छे हैं, वह 'सज्जन' है। जिसमें कल्याणकी तीव्र उत्कण्ठा है, जिसका परमात्मप्राप्तिका उद्देश्य है, वह 'साधक' है। साधक तो सज्जन होता ही है, पर सज्जन साधक नहीं होता।

सज्जन लौकिक अहंकारवाला होता है और साधक पारमार्थिक अहंकारवाला होता है। जो दूसरे मत, सम्प्रदाय आदिकी निन्दा या

खण्डन करता है, वह सज्जन तो हो सकता है, पर साधक नहीं हो सकता॥ ३५१॥

प्रश्न—ज्ञानमार्गी योगभ्रष्ट होता है कि नहीं?

उत्तर—जिस प्रणालीमें श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ध्यान आदि है, उस प्रणालीसे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी सम्भावना रहती है। परन्तु विवेककी प्रधानतासे चलनेवाले ज्ञानयोगीके योगभ्रष्ट होनेकी कम सम्भावना रहती है॥ ३५२॥

प्रश्न—क्या साधक द्रष्टा-भावसे भी रहित हो सकता है?

उत्तर—हाँ, हो सकता है। यदि न हो सके तो द्रष्टा-भाव स्वतः नष्ट हो जायगा। भागवतमें आया है—**'परिपश्यन्नुपरमेत् सर्वतो मुक्तसंशयः'** (११। २९। १८) 'सब प्रकारसे संशयरहित होकर सर्वत्र परमात्माको भलीभाँति देखता हुआ उपराम हो जाय'। उपराम होनेसे द्रष्टा नहीं रहेगा, प्रत्युत केवल परमात्मा रह जायँगे। परमात्मामें द्रष्टा, दृश्य और दर्शन—यह त्रिपुटी नहीं है। दृश्य होनेसे द्रष्टा होता है, दृश्य नहीं तो द्रष्टा कैसे?॥ ३५३॥

प्रश्न—पारमार्थिक मार्गपर चलनेवालेपर अधिक दुःख क्यों आता है?

उत्तर—ऐसा नियम नहीं है। वास्तवमें उनपर अधिक दुःख नहीं आता, पर सुखकी तरफ वृत्ति होनेसे लोगोंको ज्यादा दुःख दीखता है। साधकपर दुःखका असर नहीं पड़ता अर्थात् वह दुःखी नहीं होता। इसलिये दुःखदायी परिस्थिति आनेपर भी वह पारमार्थिक मार्गको छोड़ता नहीं।

एक सन्तसे किसीने कहा कि रामजीने सीताका त्याग करके उनको बहुत दुःख दिया, तो वे सन्त बोले कि यह बात सीताजीसे पूछो तो पता लगे! सीताजी दुःख मानती ही नहीं! उनकी रामजीपर दोषदृष्टि होती ही नहीं!॥ ३५४॥

साधन

प्रश्न—मनुष्यजीवनमें साधनका आरम्भ कबसे होता है?

उत्तर—जब मनुष्य संसारसे संतप्त हो जाता है और विचार करता है, तब साधन आरम्भ होता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्यको संसारसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, तब वह संसारसे निराश हो जाता है। उसके भीतर उथल-पुथल मचती है और यह विचार होता है कि मुझे वह सुख चाहिये, जिसमें दुःख न हो। वह जीवन चाहिये, जिसमें मृत्यु न हो। वह पद चाहिये, जिसमें पतन न हो। मैं नित्य सुखके बिना नहीं रह सकता। ऐसा विचार होनेपर वह साधनमें लग जाता है॥ ३५५॥

प्रश्न—हमारा साधन आगे बढ़ रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे करें?

उत्तर—जितना संसारमें आकर्षण कम हुआ है और भगवान्‌में आकर्षण अधिक हुआ है, उतना ही हम साधनमें आगे बढ़े हैं। साधनमें आगे बढ़नेपर व्यवहारमें राग-द्वेष कम होते हैं। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता रहती है। सांसारिक लाभ-हानिमें हर्ष-शोक कम होते हैं॥ ३५६॥

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भजन, सत्संग आदि तो वे करें, जो पाप करते हैं। हम पाप करते ही नहीं, फिर भजन क्यों करें?

मन साफ होना चाहिये—*'मन चंगा तो कठौती में गंगा'*, पाठ-पूजा करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—उनको यह कहना चाहिये कि सम्पूर्ण पापोंका मूल 'कामना' तो आपके भीतर है ही—**'काम एष क्रोध एषः'** (गीता ३। ३७), फिर आप पापोंसे रहित कैसे हुए? भोग भोगना और संग्रह करना असली पाप है। इन दोनोंके सिवाय आप क्या करते हो? सिवाय कामनाके और मनमें क्या है?कामना मनमें है तो फिर मन चंगा कैसे? जो पाठ-पूजन, सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ नहीं करता, उसमें और पशुओंमें फर्क क्या हुआ? पशु

मुँह भी नहीं धोते!

अशुद्धि रोज आती है। इसलिये रोज शौच-स्नान करना पड़ता है। रोज बर्तन माँजने पड़ते हैं। मनुष्य प्रतिदिन जो क्रियाएँ करता है, उनसे दोष आता ही है—**'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः'** (गीता१८। ४८)। इस दोषकी शुद्धिके लिये प्रतिदिन पाठ-पूजा,भजन-ध्यान आदि करना आवश्यक है।

मन साफ होना चाहिये, पूजा-पाठ करनेसे क्या लाभ—ऐसी बातें तभी पैदा होती हैं, जब मन मैला होता है। अगर मन साफ हो तो शास्त्रविरुद्ध कार्य हो ही नहीं सकता। अगर मनमें शास्त्रविरुद्ध बात पैदा होती है तो यह मनकी मलिनताका प्रमाण है॥ ३५७॥

प्रश्न—जप, ध्यान आदि साधन स्वयंतक तो पहुँचते नहीं, फिर उनको करनेकी सार्थकता क्या है?

उत्तर— जप, ध्यान आदिसे विवेकका विकास होता है, भगवान्‌की सम्मुखता होती है, अन्तःकरणमें पारमार्थिक रुचि पैदा होती है और संसारका महत्त्व कम होता है। ऐसा होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और भगवान्‌में प्रेम हो जाता है॥ ३५८॥

प्रश्न—भजन करना क्या है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे जो जप, चिन्तन, स्वाध्याय, विचार आदि किया जाय—यह 'भजन' है। भगवान्‌में प्रियता होना, भगवान्‌के सम्मुख होना भी भजन है और संसारसे विमुख होना भी भजन है। केवल क्रियासे भजन नहीं होता, प्रत्युत उसमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भजन होता है॥ ३५९॥

प्रश्न—साधनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—साधनका स्वरुप है—परमात्माकी प्राप्तिमें तत्परता॥ ३६०॥

प्रश्न—असाधन क्या है?

उत्तर—जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और

जो मिलने-बिछुड़नेवाला नहीं है,उसको अपना न मानना असाधन है॥ ३६१॥

प्रश्न—साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग करना क्या है?

उत्तर—उसमें सन्तोष करना। पारमार्थिक उन्नति तो सहायक है, पर उस उन्नतिमें सन्तोष करना बाधक है। सन्तोष करनेसे साधन आगे नहीं बढ़ता, उसमें रुकावट आ जाती है॥ ३६२॥

प्रश्न—चेतनने भूलसे जड़के साथ तादात्म्य किया है तो इस भूलको मिटानेकी जो साधना होगी, वह भी चेतनको ही करनी पड़ेगी। जब चेतन साधन करेगा तो फिर वह अकर्ता कैसे माना जायगा?

उत्तर—भूल (अज्ञान)अनादि है, चेतनने भूल की नहीं है। साधनका कर्ता वही है, जो 'अहंकारमूढात्मा' है* अर्थात् जिसने शरीरसे तादात्म्य कर रखा है। वास्तवमें भूल किसी साधनसे नहीं मिटती। मानी हुई भूल न माननेसे मिट जाती है॥ ३६३॥

प्रश्न—कई जगह ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति पहले तो खूब भजन, नामजप आदि करता था, पर बादमें उसने सब छोड़ दिया—इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसका कारण है—कामना। जैसा चाहते हैं, वैसा होता नहीं, तब भजन करना छोड़ देते हैं। कारण कि कामनावाले व्यक्तिके लिये भगवान् साध्य नहीं हैं, प्रत्युत केवल कामनापूर्तिका साधन हैं। इसलिये गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसे व्यक्तिको भक्तोंकी कथाएँ सुनानी चाहिये॥ ३६४॥

प्रश्न—कोई मनुष्य यह निर्णय न कर सके कि मैं किसको इष्ट मानूँ, कौन-सा साधन करूँ, तो वह क्या करे?

उत्तर—अपना आग्रह छोड़कर रात-दिन नामजप करना शुरू कर

* अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

दे। इसमें कुछ देरी तो लगेगी, पर मार्ग मिल जायगा॥ ३६५॥

प्रश्न—लोगोंकी प्रायः यह दुविधा रहती है कि महिमा सुन-सुनकर वे अनेक देवी-देवताओंकी उपासना शुरू कर देते हैं, पर बादमें उसको छोड़ना चाहते हुए भी इस डरसे नहीं छोड़ पाते कि कोई देवता नाराज न हो जाय, कोई नुकसान न हो जाय! ऐसी स्थितिमें उन्हें क्या करना चाहिये?

उत्तर—उपासना छोड़नेसे देवी-देवता नाराज नहीं होते; क्योंकि उनमें हमारी तरह राग-द्वेष नहीं होते। इसका कारण यह है कि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। जैसे शरीरके अंग अनेक होनेपर भी शरीर एक है, ऐसे ही अनेक देवी-देवता होनेपर भी तत्त्व एक ही है।

साधकका उपास्य-देव एक ही होना चाहिये। अनेक उपास्य-देव होनेसे एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा न होनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी॥ ३६६॥

प्रश्न—सन्तोंसे दो प्रकारकी बात सुननेको मिलती है—पहली, अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर साधनमें लग जाय और दूसरी, सब साधन दूसरेके कल्याणके लिये ही करे। दोनों बातोंका सामञ्जस्य कैसे बैठेगा?

उत्तर—ये दो भेद साधकके स्वभावके अनुसार हैं। खास बात है—कल्याणके उद्देश्यसे खुद भी लगे और दूसरोंको भी लगाये—**'स्मरन्तः स्मारयन्तश्च'** (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)॥ ३६७॥

प्रश्न—विवाह आदि होनेपर जैसे सांसारिक सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे हो जाती है, ऐसे भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे क्यों नहीं होती?

उत्तर—इसका कारण है कि हमने अपनेको शरीर मान रखा है। यदि अपनेको शरीर नहीं मानते तो भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति भी सुगमतासे हो जाती॥ ३६८॥

प्रश्न—हम साधन करते हैं, फिर जल्दी सफलता क्यों नहीं मिल रही है?

उत्तर—जल्दी सफलता चाहना भी भोग है। हमें तो बस, साधन करते रहना है। जल्दी सफलता मिल जाय—इस तरफ ध्यान ही नहीं देना है। जल्दी सिद्धि प्राप्त करके पीछे करेंगे क्या? काम तो यही करेंगे॥ ३६९॥

साधन

प्रश्न—मनुष्यजीवनमें साधनका आरम्भ कबसे होता है?

उत्तर—जब मनुष्य संसारसे संतप्त हो जाता है और विचार करता है, तब साधन आरम्भ होता है। तात्पर्य है कि जब मनुष्यको संसारसे सुख नहीं मिलता, शान्ति नहीं मिलती, तब वह संसारसे निराश हो जाता है। उसके भीतर उथल-पुथल मचती है और यह विचार होता है कि मुझे वह सुख चाहिये, जिसमें दु:ख न हो। वह जीवन चाहिये, जिसमें मृत्यु न हो। वह पद चाहिये, जिसमें पतन न हो। मैं नित्य सुखके बिना नहीं रह सकता। ऐसा विचार होनेपर वह साधनमें लग जाता है॥ ३५५॥

प्रश्न—हमारा साधन आगे बढ़ रहा है या नहीं, इसकी पहचान कैसे करें?

उत्तर—जितना संसारमें आकर्षण कम हुआ है और भगवान्‌में आकर्षण अधिक हुआ है, उतना ही हम साधनमें आगे बढ़े हैं। साधनमें आगे बढ़नेपर व्यवहारमें राग-द्वेष कम होते हैं। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता रहती है। सांसारिक लाभ-हानिमें हर्ष-शोक कम होते हैं॥ ३५६॥

प्रश्न—कुछ लोग कहते हैं कि भजन, सत्संग आदि तो वे करें, जो पाप करते हैं। हम पाप करते ही नहीं, फिर भजन क्यों करें? मन साफ होना चाहिये—*'मन चंगा तो कठौती में गंगा'*, पाठ-पूजा करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—उनको यह कहना चाहिये कि सम्पूर्ण पापोंका मूल 'कामना' तो आपके भीतर है ही—**'काम एष क्रोध एष:'** (गीता ३। ३७), फिर आप पापोंसे रहित कैसे हुए? भोग भोगना और संग्रह करना असली पाप है। इन दोनोंके सिवाय आप क्या करते हो? सिवाय कामनाके और मनमें क्या है?कामना मनमें है तो फिर मन चंगा कैसे? जो पाठ-पूजन, सन्ध्या-वन्दन आदि कुछ नहीं करता, उसमें और पशुओंमें फर्क क्या हुआ? पशु

मुँह भी नहीं धोते!

अशुद्धि रोज आती है। इसलिये रोज शौच-स्नान करना पड़ता है। रोज बर्तन माँजने पड़ते हैं। मनुष्य प्रतिदिन जो क्रियाएँ करता है, उनसे दोष आता ही है—'**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः**' (गीता१८। ४८)। इस दोषकी शुद्धिके लिये प्रतिदिन पाठ-पूजा, भजन-ध्यान आदि करना आवश्यक है।

मन साफ होना चाहिये, पूजा-पाठ करनेसे क्या लाभ—ऐसी बातें तभी पैदा होती हैं, जब मन मैला होता है। अगर मन साफ हो तो शास्त्रविरुद्ध कार्य हो ही नहीं सकता। अगर मनमें शास्त्रविरुद्ध बात पैदा होती है तो यह मनकी मलिनताका प्रमाण है॥ ३५७॥

प्रश्न—जप, ध्यान आदि साधन स्वयंतक तो पहुँचते नहीं, फिर उनको करनेकी सार्थकता क्या है?

उत्तर— जप, ध्यान आदिसे विवेकका विकास होता है, भगवान्‌की सम्मुखता होती है, अन्तःकरणमें पारमार्थिक रुचि पैदा होती है और संसारका महत्त्व कम होता है। ऐसा होनेपर संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद और भगवान्‌में प्रेम हो जाता है॥ ३५८॥

प्रश्न—भजन करना क्या है?

उत्तर—भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे जो जप, चिन्तन, स्वाध्याय, विचार आदि किया जाय—यह 'भजन' है। भगवान्‌में प्रियता होना, भगवान्‌के सम्मुख होना भी भजन है और संसारसे विमुख होना भी भजन है। केवल क्रियासे भजन नहीं होता, प्रत्युत उसमें भगवान्‌का सम्बन्ध होनेसे भजन होता है॥ ३५९॥

प्रश्न—साधनका स्वरूप क्या है?

उत्तर—साधनका स्वरुप है—परमात्माकी प्राप्तिमें तत्परता॥ ३६०॥

प्रश्न—असाधन क्या है?

उत्तर—जो मिला है और बिछुड़ जायगा, उसको अपना मानना और

जो मिलने-बिछुड़नेवाला नहीं है,उसको अपना न मानना असाधन है॥ ३६१॥

प्रश्न—साधनजन्य सात्त्विक सुखका भोग करना क्या है?

उत्तर—उसमें सन्तोष करना। पारमार्थिक उन्नति तो सहायक है, पर उस उन्नतिमें सन्तोष करना बाधक है। सन्तोष करनेसे साधन आगे नहीं बढ़ता, उसमें रुकावट आ जाती है॥ ३६२॥

प्रश्न—चेतनने भूलसे जड़के साथ तादात्म्य किया है तो इस भूलको मिटानेकी जो साधना होगी, वह भी चेतनको ही करनी पड़ेगी। जब चेतन साधन करेगा तो फिर वह अकर्ता कैसे माना जायगा?

उत्तर—भूल (अज्ञान)अनादि है, चेतनने भूल की नहीं है। साधनका कर्ता वही है, जो 'अहंकारमूढात्मा' है* अर्थात् जिसने शरीरसे तादात्म्य कर रखा है। वास्तवमें भूल किसी साधनसे नहीं मिटती। मानी हुई भूल न माननेसे मिट जाती है॥ ३६३॥

प्रश्न—कई जगह ऐसा देखा जाता है कि कोई व्यक्ति पहले तो खूब भजन, नामजप आदि करता था, पर बादमें उसने सब छोड़ दिया—इसका क्या कारण है?

उत्तर—इसका कारण है—कामना। जैसा चाहते हैं, वैसा होता नहीं, तब भजन करना छोड़ देते हैं। कारण कि कामनावाले व्यक्तिके लिये भगवान् साध्य नहीं हैं, प्रत्युत केवल कामनापूर्तिका साधन हैं। इसलिये गीताने कामनाके त्यागपर विशेष जोर दिया है। ऐसे व्यक्तिको भक्तोंकी कथाएँ सुनानी चाहिये॥ ३६४॥

प्रश्न—कोई मनुष्य यह निर्णय न कर सके कि मैं किसको इष्ट मानूँ, कौन-सा साधन करूँ, तो वह क्या करे?

उत्तर—अपना आग्रह छोड़कर रात-दिन नामजप करना शुरू कर

* अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ (गीता ३। २७)

दे। इसमें कुछ देरी तो लगेगी, पर मार्ग मिल जायगा॥ ३६५॥

प्रश्न—लोगोंकी प्रायः यह दुविधा रहती है कि महिमा सुन-सुनकर वे अनेक देवी-देवताओंकी उपासना शुरू कर देते हैं, पर बादमें उसको छोड़ना चाहते हुए भी इस डरसे नहीं छोड़ पाते कि कोई देवता नाराज न हो जाय, कोई नुकसान न हो जाय! ऐसी स्थितिमें उन्हें क्या करना चाहिये?

उत्तर—उपासना छोड़नेसे देवी-देवता नाराज नहीं होते; क्योंकि उनमें हमारी तरह राग-द्वेष नहीं होते। इसका कारण यह है कि मूलमें उपास्य-तत्त्व एक ही है। जैसे शरीरके अंग अनेक होनेपर भी शरीर एक है, ऐसे ही अनेक देवी-देवता होनेपर भी तत्त्व एक ही है।

साधकका उपास्य-देव एक ही होना चाहिये। अनेक उपास्य-देव होनेसे एक निष्ठा नहीं होगी और एक निष्ठा न होनेसे सिद्धि नहीं मिलेगी॥ ३६६॥

प्रश्न—सन्तोंसे दो प्रकारकी बात सुननेको मिलती है—पहली, अपने कल्याणका उद्देश्य रखकर साधनमें लग जाय और दूसरी, सब साधन दूसरेके कल्याणके लिये ही करे। दोनों बातोंका सामञ्जस्य कैसे बैठेगा?

उत्तर—ये दो भेद साधकके स्वभावके अनुसार हैं। खास बात है—कल्याणके उद्देश्यसे खुद भी लगे और दूसरोंको भी लगाये—'**स्मरन्तः स्मारयन्तश्च**' (श्रीमद्भा० ११। ३। ३१)॥ ३६७॥

प्रश्न—विवाह आदि होनेपर जैसे सांसारिक सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे हो जाती है, ऐसे भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति सुगमतासे क्यों नहीं होती?

उत्तर—इसका कारण है कि हमने अपनेको शरीर मान रखा है। यदि अपनेको शरीर नहीं मानते तो भगवत्सम्बन्धकी स्वीकृति भी सुगमतासे हो जाती॥ ३६८॥

प्रश्न—हम साधन करते हैं, फिर जल्दी सफलता क्यों नहीं मिल रही है?

उत्तर—जल्दी सफलता चाहना भी भोग है। हमें तो बस, साधन करते रहना है। जल्दी सफलता मिल जाय—इस तरफ ध्यान ही नहीं देना है। जल्दी सिद्धि प्राप्त करके पीछे करेंगे क्या? काम तो यही करेंगे॥ ३६९॥

सुख-दुःख

प्रश्न—सुख-दुःखका अनुभव स्वयं करता है। दुःखका कारण अज्ञान है। तो फिर यह अज्ञान स्वयंमें है या कारणशरीरमें?

उत्तर—स्वयं सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत सुखी-दुःखी हो जाता है। अज्ञान कारणशरीरमें है, पर स्वयं उससे तादात्म्य कर लेता है, घुलमिल जाता है और सुखी-दुःखी हो जाता है।

शरीरके साथ एकता मान ली—यही अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण ही शरीरमें होनेवाले परिवर्तनको अपनेमें मान लेते हैं अर्थात् अनुकूलतासे एक होकर सुखी और प्रतिकूलतासे एक होकर दुःखी हो जाते हैं। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी भी होता नहीं, प्रत्युत सुखी-दुःखी मान लेता है।

सुख-दुःख आते जाते हैं, पर स्वयं आता-जाता नहीं। सुख-दुःख नहीं रहते,पर स्वयं रहता है। अतः स्वयं सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है॥ ३७०॥

प्रश्न—फिर हम सुख-दुःखसे मिल क्यों जाते हैं?

उत्तर—मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं— इसका हम आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते । हम सुख-दुःखके आनेको, उनके स्वरूपको और उनके जानेको जानते हैं—यह विवेक है। इस विवेकपर

हम कायम नहीं रहते—यह गलती है॥ ३७१॥

प्रश्न—विवेकपर कायम रहनेमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है?

उत्तर—हमने सुखके भोगको और दुःखके भयको पकड़ लिया, इसलिये असमर्थता दीखती है। परन्तु सुखका भोग और दुःखका भय रहनेवाला नहीं है, जबकि हम रहनेवाले हैं—इस अनुभवको महत्त्व देना चाहिये। सुखके लालच और दुःखके भयको महत्त्व नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करनी चाहिये, उनसे तटस्थ रहना चाहिये, उनसे घुलना-मिलना नहीं चाहिये। फिर असमर्थता नहीं रहेगी॥ ३७२॥

प्रश्न—सुख-दुःखका रहना सिद्ध नहीं होता—यह तो ठीक है, पर आना कैसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह आता हुआ दीखता है?

उत्तर—वह तो बहता है, आना हमने मान लिया! वह बहता है—यह कहना भी तभी है, जब हम उसकी सत्ता मानते हैं। सत्ता न मानें तो वह है ही नहीं! उसके आने-जानेकी मान्यता स्वयंने की है। इस मान्यताका कारण है—विवेककी कमी, अज्ञान, बेसमझी, मूर्खता॥ ३७३॥

प्रश्न—एक बात है कि सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ता है और दूसरी बात है कि दुःखका कारण भोग नहीं है, प्रत्युत भोगकी इच्छा है—दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—सुखभोगके संस्कार सुखभोगकी इच्छा पैदा करते हैं। रागपूर्वक भोग भोगनेसे भोगोंका प्रबल संस्कार पड़ता है, जो अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व अंकित करता है और पुनः भोगोंमें प्रवृत्त करता है। भोगोंका महत्त्व अंकित होनेसे 'सुखका कारण भोग है'—ऐसा भाव पैदा होता है, जिससे हम सुखभोगके बिना नहीं रह पाते।

भोग दुर्गतिका कारण है और भोगोंकी इच्छा दुःखका कारण है॥ ३७४॥

प्रश्न—सुख मिलेगा, तभी दुःख मिटेगा। सुख मिले बिना दुःख कैसे मिटेगा?

उत्तर—दुःखसे बचनेका उपाय सुख नहीं है, प्रत्युत त्याग है। इसी तरह रुपयोंका अभाव भी कभी रुपयोंसे नहीं मिट सकता—यह नियम है। रुपयोंके अभावको हम रुपयोंसे मिटा लेंगे—इसकेसमान कोई मूर्खता नहीं है। ज्यों-ज्यों रुपये मिलते हैं, त्यों-त्यों अभाव बढ़ता है—*'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'*॥ ३७५॥

प्रश्न—कई व्यक्ति तो दुःख आनेपर अधिक भजन करते हैं, पर कई दुःख आनेपर भजन छोड़ देते हैं, इसका कारण?

उत्तर—जो भजनके लिये भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर भी नहीं छूटता। परन्तु जो सुखकी कामनासे (सकामभावसे) भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर छूट जाता है। तात्पर्य है कि 'भजन करनेसे सुख मिलेगा'—यह प्रलोभन ज्यादा होनेसे दुःख आनेपर भजन छूट जाता है। इसीलिये कामना-त्यागकी बात कही जाती है॥ ३७६॥

प्रश्न—दुःखका असर न पड़े, इसके लिये क्या करें?

उत्तर—दुःखका असर अपनेमें पड़ता ही नहीं; क्योंकि दुःख तो आता-जाता है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम जबर्दस्ती दुःखके असरको स्वीकार कर लेते हैं॥ ३७७॥

सुख-दुःख

प्रश्न—सुख-दुःखका अनुभव स्वयं करता है। दुःखका कारण अज्ञान है। तो फिर यह अज्ञान स्वयंमें है या कारणशरीरमें?

उत्तर—स्वयं सुख-दुःखका अनुभव नहीं करता, प्रत्युत सुखी-दुःखी हो जाता है। अज्ञान कारणशरीरमें है, पर स्वयं उससे तादात्म्य कर लेता है, घुलमिल जाता है और सुखी-दुःखी हो जाता है।

शरीरके साथ एकता मान ली—यही अज्ञान है। इस अज्ञानके कारण ही शरीरमें होनेवाले परिवर्तनको अपनेमें मान लेते हैं अर्थात् अनुकूलतासे एक होकर सुखी और प्रतिकूलतासे एक होकर दुःखी हो जाते हैं। वास्तवमें स्वयं सुखी-दुःखी भी होता नहीं, प्रत्युत सुखी-दुःखी मान लेता है।

सुख-दुःख आते जाते हैं, पर स्वयं आता-जाता नहीं। सुख-दुःख नहीं रहते,पर स्वयं रहता है। अतः स्वयं सुख-दुःखसे अलग है। सुख-दुःखके आने-जानेका और स्वयंके रहनेका अनुभव सबको है॥ ३७०॥

प्रश्न—फिर हम सुख-दुःखसे मिल क्यों जाते हैं?

उत्तर—मैं अलग हूँ और सुख-दुःख अलग हैं— इसका हम आदर नहीं करते, इसको महत्त्व नहीं देते । हम सुख-दुःखके आनेको, उनके स्वरूपको और उनके जानेको जानते हैं—यह विवेक है। इस विवेकपर

हम कायम नहीं रहते—यह गलती है ॥ ३७१ ॥

प्रश्न—विवेकपर कायम रहनेमें असमर्थता क्यों प्रतीत होती है?

उत्तर—हमने सुखके भोगको और दुःखके भयको पकड़ लिया, इसलिये असमर्थता दीखती है। परन्तु सुखका भोग और दुःखका भय रहनेवाला नहीं है, जबकि हम रहनेवाले हैं—इस अनुभवको महत्त्व देना चाहिये। सुखके लालच और दुःखके भयको महत्त्व नहीं देना चाहिये, प्रत्युत उनकी उपेक्षा करनी चाहिये, उनसे तटस्थ रहना चाहिये, उनसे घुलना-मिलना नहीं चाहिये। फिर असमर्थता नहीं रहेगी ॥ ३७२ ॥

प्रश्न—सुख-दुःखका रहना सिद्ध नहीं होता—यह तो ठीक है, पर आना कैसे सिद्ध नहीं होता; क्योंकि वह आता हुआ दीखता है?

उत्तर—वह तो बहता है, आना हमने मान लिया! वह बहता है—यह कहना भी तभी है, जब हम उसकी सत्ता मानते हैं। सत्ता न मानें तो वह है ही नहीं! उसके आने-जानेकी मान्यता स्वयंने की है। इस मान्यताका कारण है—विवेककी कमी, अज्ञान, बेसमझी, मूर्खता ॥ ३७३ ॥

प्रश्न—एक बात है कि सुखके भोगीको दुःख भोगना ही पड़ता है और दूसरी बात है कि दुःखका कारण भोग नहीं है, प्रत्युत भोगकी इच्छा है—दोनों बातोंका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—सुखभोगके संस्कार सुखभोगकी इच्छा पैदा करते हैं। रागपूर्वक भोग भोगनेसे भोगोंका प्रबल संस्कार पड़ता है, जो अन्तःकरणमें भोगोंका महत्त्व अंकित करता है और पुनः भोगोंमें प्रवृत्त करता है। भोगोंका महत्त्व अंकित होनेसे 'सुखका कारण भोग है'—ऐसा भाव पैदा होता है, जिससे हम सुखभोगके बिना नहीं रह पाते।

भोग दुर्गतिका कारण है और भोगोंकी इच्छा दुःखका कारण है ॥ ३७४ ॥

प्रश्न—सुख मिलेगा, तभी दुःख मिटेगा। सुख मिले बिना दुःख कैसे मिटेगा?

उत्तर—दुःखसे बचनेका उपाय सुख नहीं है, प्रत्युत त्याग है। इसी तरह रुपयोंका अभाव भी कभी रुपयोंसे नहीं मिट सकता—यह नियम है। रुपयोंके अभावको हम रुपयोंसे मिटा लेंगे—इसकेसमान कोई मूर्खता नहीं है। ज्यों-ज्यों रुपये मिलते हैं, त्यों-त्यों अभाव बढ़ता है—***'जिमि प्रतिलाभ लोभ अधिकाई'***॥ ३७५॥

प्रश्न—कई व्यक्ति तो दुःख आनेपर अधिक भजन करते हैं, पर कई दुःख आनेपर भजन छोड़ देते हैं, इसका कारण?

उत्तर—जो भजनके लिये भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर भी नहीं छूटता। परन्तु जो सुखकी कामनासे (सकामभावसे) भजन करता है, उसका भजन दुःख आनेपर छूट जाता है। तात्पर्य है कि 'भजन करनेसे सुख मिलेगा'—यह प्रलोभन ज्यादा होनेसे दुःख आनेपर भजन छूट जाता है। इसीलिये कामना-त्यागकी बात कही जाती है॥ ३७६॥

प्रश्न—दुःखका असर न पड़े, इसके लिये क्या करें?

उत्तर—दुःखका असर अपनेमें पड़ता ही नहीं; क्योंकि दुःख तो आता-जाता है, पर हम ज्यों-के-त्यों रहते हैं। हम जबर्दस्ती दुःखके असरको स्वीकार कर लेते हैं॥ ३७७॥

सुखासक्ति

प्रश्न—सुखासक्तिका त्याग कैसे करें?

उत्तर—मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख पहुँचानेके लिये है। स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपनी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अपने विवेकका आदर करनेसे भी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अगर रोकर भगवान्‌से प्रार्थना करें, ***'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो!'*** कहकर भगवान्‌को पुकारें तो भगवान्‌की कृपासे सुखासक्तिका नाश हो जाता है। परन्तु ये उपाय तब काम आयेंगे, जब हम सच्चे हृदयसे सुखलोलुपताको छोड़ना चाहेंगे॥ ३७८॥

प्रश्न—आसक्तिका नाश करनेके लिये 'नासतो विद्यते भावः' (असत्‌की सत्ता ही नहीं है) भाव बढ़िया है या 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) भाव बढ़िया है?

उत्तर—जिसकी संसारमें अधिक आसक्ति है, उसके लिये **'नासतो विद्यते भावः'**—यह भाव ठीक बैठेगा, और जिसकी कम आसक्ति है, उसके लिये **'वासुदेवः सर्वम्'**—यह भाव ठीक बैठेगा। वास्तवमें दोनों भाव एक ही हैं। दोनोंमें कोई एक होनेपर दोनों सिद्ध हो जायँगे।

जिसके भीतर साँपका भय अधिक है, उसके लिये कहना पड़ता है कि **'साँप नहीं है, रस्सी है'**। परन्तु जिसमें भय नहीं है, उसके लिये **'रस्सी है'**—यह कहना ही पर्याप्त है। तात्पर्य है कि ज्यादा आसक्तिवालेके लिये निषेध मुख्य है॥ ३७९॥

प्रश्न—महान् सुख मिले बिना अल्प सुखकी आसक्तिका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—इसका उपाय है कि पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले तो उसका आदर करे, उसपर विश्वास करे। जैसे सत्संग,कथा-कीर्तन आदिमें एक सुख मिलता है, जबकि वहाँ कोई भोग-पदार्थ नहीं

होता, पर हम उसका आदर नहीं करते। अगर पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले और उसपर हम विश्वास करते रहें तथा सांसारिक सुखका विश्वास छोड़ते जायँ तो महान् सुखका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें हमें न अल्प सुख लेना है, न महान् सुख लेना है! लेना कुछ है ही नहीं!॥ ३८०॥

प्रश्न—यह नियम है कि सुखका भोगी दुःखसे नहीं बच सकता। किसीने मिठाई खायी और उसको स्वादका, सुखका अनुभव हुआ तो अब उसको दुःख क्या होगा?

उत्तर—स्वाद आना और सुख लेना—दोनों अलग-अलग चीजें हैं। स्वाद आना उतना दोषी नहीं; जितना सुख लेना दोषी है। सुख लेनेका तात्पर्य है कि उस वस्तुका महत्त्व हृदयमें अंकित हो जाय। महत्त्व अंकित होनेसे उस वस्तुमें राग, आसक्ति हो जाती है। फिर जब वह वस्तु नहीं मिलेगी या छिन जायगी, तब दुःख होगा। अतः स्वादका, सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत राग होना दोषी है॥ ३८१॥

प्रश्न—जब चेतन (स्वयं)-का संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं तो फिर सम्बन्धजन्य सुख कैसे होता है?

उत्तर—सम्बन्धजन्य सुख वास्तवमें सुख नहीं है, प्रत्युत मान्यताका सुख है। जैसे रुपये बैंकमें पड़े हैं, पर उनसे सम्बन्ध जोड़नेसे एक सुख होता है कि मैं धनी हूँ तो यह सुख केवल माना हुआ है॥ ३८२॥

प्रश्न—भोजनमें किसी पदार्थकी रुचि होना अथवा अरुचि होना दोषी है या नहीं?

उत्तर—भोजनमें रुचि अथवा अरुचि शरीरकी स्वाभाविक आवश्यकताको लेकर भी होती है और सुखबुद्धिको लेकर भी होती है। परन्तु दोनोंका विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। पदार्थमें रुचि है अथवा सुखबुद्धि है—इसका विश्लेषण वीतराग महापुरुष ही कर सकता है। कारण कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है। भोगबुद्धि न हो तो रुचि अथवा अरुचिका होना दोषी नहीं है॥ ३८३॥

प्रश्न—भोगोंके पुराने संस्कार पुनः भोगोंमें लगाते हैं, ऐसी स्थितिमें साधक क्या करे?

उत्तर—पुराने संस्कार इतने बाधक नहीं हैं, जितनी सुखलोलुपता बाधक है। सुखलोलुपता होनेसे ही संस्कार बाधक होते हैं। हम पुराने संस्कारोंसे सुख तो लेते हैं और चाहते हैं कि संस्कार न आयें, तभी संस्कार हमें बाध्य करते हैं। अगर उनसे सुख न लें तो संस्कार मिट जायँगे, बाध्य नहीं करेंगे। कारण कि वास्तवमें संस्कारकी सत्ता ही नहीं है। उसको हम ही सत्ता देते हैं। भोगके समय भी हम ही भोगको सत्ता देते हैं। भोगोंसे सुख लेते हैं—इसीपर भोग टिके हैं। सुख न लें तो भोग हो ही नहीं सकता। सुख न लें तो बिना मिटाये भोगका संस्कार स्वतः कमजोर पड़ जायगा। सुख लेनेसे पुराना संस्कार (नया भोग भोगनेके समान) नया होता रहता है।

पुराने संस्कार आयें तो साधक उनकी उपेक्षा कर दे, न विरोध करे, न अनुमोदन करे। असत्‌का संस्कार भी असत् ही होता है। असत्‌की सत्ता है ही नहीं—**'नासतो विद्यते भावः'** (गीता २। १६)॥ ३८४॥

प्रश्न—निषिद्ध भोगकी आसक्तिसे कैसे छूटा जाय?

उत्तर—निषिद्ध भोगकी आसक्ति खराब स्वभावके कारण होती है। स्वभाव सुधरता है—सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्रके द्वारा विवेक जाग्रत् होनेपर अथवा भगवान्‌के शरणागत होनेपर।

याद करनेसे पुराना भोग नया होता रहता है। याद करनेसे नया भोग भोगनेकी तरह ही अनर्थ होता है कोई भोग भोगे साठ वर्ष हो गये, पर आज उसको याद किया तो आज नया भोग हो गया! मनुष्य पुराने भोगको याद करके उसको नया करता रहता है, इसीलिये उसकी आसक्ति मिटती नहीं। इसलिये अगर पुराना भोग याद आ जाय तो उसमें रस (सुख) न ले। रस लेनेसे वह नया हो जाता है, उसको सत्ता मिल जाती है॥ ३८५॥

सुखासक्ति

प्रश्न—सुखासक्तिका त्याग कैसे करें?

उत्तर—मनुष्यशरीर सुख भोगनेके लिये नहीं है, प्रत्युत सुख पहुँचानेके लिये है। स्वार्थभावका त्याग करके दूसरोंको सुख पहुँचानेसे अपनी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अपने विवेकका आदर करनेसे भी सुखासक्तिका त्याग हो जाता है। अगर रोकर भगवान्से प्रार्थना करें, *'हे मेरे नाथ! हे मेरे प्रभो!'* कहकर भगवान्को पुकारें तो भगवान्की कृपासे सुखासक्तिका नाश हो जाता है। परन्तु ये उपाय तब काम आयेंगे, जब हम सच्चे हृदयसे सुखलोलुपताको छोड़ना चाहेंगे॥ ३७८॥

प्रश्न—आसक्तिका नाश करनेके लिये 'नासतो विद्यते भावः' (असत्की सत्ता ही नहीं है) भाव बढ़िया है या 'वासुदेवः सर्वम्' (सब कुछ भगवान् ही हैं) भाव बढ़िया है?

उत्तर—जिसकी संसारमें अधिक आसक्ति है, उसके लिये '**नासतो विद्यते भावः**'—यह भाव ठीक बैठेगा, और जिसकी कम आसक्ति है, उसके लिये '**वासुदेवः सर्वम्**'—यह भाव ठीक बैठेगा। वास्तवमें दोनों भाव एक ही हैं। दोनोंमें कोई एक होनेपर दोनों सिद्ध हो जायँगे।

जिसके भीतर साँपका भय अधिक है, उसके लिये कहना पड़ता है कि 'साँप नहीं है, रस्सी है'। परन्तु जिसमें भय नहीं है, उसके लिये 'रस्सी है'—यह कहना ही पर्याप्त है। तात्पर्य है कि ज्यादा आसक्तिवालेके लिये निषेध मुख्य है॥ ३७९॥

प्रश्न—महान् सुख मिले बिना अल्प सुखकी आसक्तिका त्याग कैसे होगा?

उत्तर—इसका उपाय है कि पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले तो उसका आदर करे, उसपर विश्वास करे। जैसे सत्संग,कथा-कीर्तन आदिमें एक सुख मिलता है, जबकि वहाँ कोई भोग-पदार्थ नहीं

होता, पर हम उसका आदर नहीं करते। अगर पारमार्थिक विषयमें थोड़ा भी सुख मिले और उसपर हम विश्वास करते रहें तथा सांसारिक सुखका विश्वास छोड़ते जायँ तो महान् सुखका अनुभव हो जायगा।

वास्तवमें हमें न अल्प सुख लेना है, न महान् सुख लेना है! लेना कुछ है ही नहीं!॥ ३८०॥

प्रश्न—यह नियम है कि सुखका भोगी दु:खसे नहीं बच सकता। किसीने मिठाई खायी और उसको स्वादका, सुखका अनुभव हुआ तो अब उसको दु:ख क्या होगा?

उत्तर—स्वाद आना और सुख लेना—दोनों अलग-अलग चीजें हैं। स्वाद आना उतना दोषी नहीं; जितना सुख लेना दोषी है। सुख लेनेका तात्पर्य है कि उस वस्तुका महत्त्व हृदयमें अंकित हो जाय। महत्त्व अंकित होनेसे उस वस्तुमें राग, आसक्ति हो जाती है। फिर जब वह वस्तु नहीं मिलेगी या छिन जायगी, तब दु:ख होगा। अत: स्वादका, सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत राग होना दोषी है॥ ३८१॥

प्रश्न—जब चेतन (स्वयं)-का संसारसे सम्बन्ध है ही नहीं तो फिर सम्बन्धजन्य सुख कैसे होता है?

उत्तर—सम्बन्धजन्य सुख वास्तवमें सुख नहीं है, प्रत्युत मान्यताका सुख है। जैसे रुपये बैंकमें पड़े हैं, पर उनसे सम्बन्ध जोड़नेसे एक सुख होता है कि मैं धनी हूँ तो यह सुख केवल माना हुआ है॥ ३८२॥

प्रश्न—भोजनमें किसी पदार्थकी रुचि होना अथवा अरुचि होना दोषी है या नहीं?

उत्तर—भोजनमें रुचि अथवा अरुचि शरीरकी स्वाभाविक आवश्यकताको लेकर भी होती है और सुखबुद्धिको लेकर भी होती है। परन्तु दोनोंका विश्लेषण करना बड़ा कठिन है। पदार्थमें रुचि है अथवा सुखबुद्धि है—इसका विश्लेषण वीतराग महापुरुष ही कर सकता है। कारण कि संसारका ज्ञान संसारसे अलग होनेपर ही होता है। भोगबुद्धि न हो तो रुचि अथवा अरुचिका होना दोषी नहीं है॥ ३८३॥

प्रश्न—भोगोंके पुराने संस्कार पुनः भोगोंमें लगाते हैं, ऐसी स्थितिमें साधक क्या करे?

उत्तर—पुराने संस्कार इतने बाधक नहीं हैं, जितनी सुखलोलुपता बाधक है। सुखलोलुपता होनेसे ही संस्कार बाधक होते हैं। हम पुराने संस्कारोंसे सुख तो लेते हैं और चाहते हैं कि संस्कार न आयें, तभी संस्कार हमें बाध्य करते हैं। अगर उनसे सुख न लें तो संस्कार मिट जायँगे, बाध्य नहीं करेंगे। कारण कि वास्तवमें संस्कारकी सत्ता ही नहीं है। उसको हम ही सत्ता देते हैं। भोगके समय भी हम ही भोगको सत्ता देते हैं। भोगोंसे सुख लेते हैं—इसीपर भोग टिके हैं। सुख न लें तो भोग हो ही नहीं सकता। सुख न लें तो बिना मिटाये भोगका संस्कार स्वतः कमजोर पड़ जायगा। सुख लेनेसे पुराना संस्कार (नया भोग भोगनेके समान) नया होता रहता है।

पुराने संस्कार आयें तो साधक उनकी उपेक्षा कर दे, न विरोध करे, न अनुमोदन करे। असत्‌का संस्कार भी असत् ही होता है। असत्‌की सत्ता है ही नहीं—'**नासतो विद्यते भावः**' (गीता २। १६)॥ ३८४॥

प्रश्न—निषिद्ध भोगकी आसक्तिसे कैसे छूटा जाय?

उत्तर—निषिद्ध भोगकी आसक्ति खराब स्वभावके कारण होती है। स्वभाव सुधरता है—सत्संग, सद्विचार, सच्छास्त्रके द्वारा विवेक जाग्रत् होनेपर अथवा भगवान्‌के शरणागत होनेपर।

याद करनेसे पुराना भोग नया होता रहता है। याद करनेसे नया भोग भोगनेकी तरह ही अनर्थ होता है कोई भोग भोगे साठ वर्ष हो गये, पर आज उसको याद किया तो आज नया भोग हो गया! मनुष्य पुराने भोगको याद करके उसको नया करता रहता है, इसीलिये उसकी आसक्ति मिटती नहीं। इसलिये अगर पुराना भोग याद आ जाय तो उसमें रस (सुख) न ले। रस लेनेसे वह नया हो जाता है, उसको सत्ता मिल जाती है॥ ३८५॥

सेवा

प्रश्न—सेवाका मूल क्या है?

उत्तर—किसीको भी दु:ख न पहुँचाना, किसीका भी अहित न करना॥ ३८६॥

प्रश्न—देशकी सेवा बड़ी है या माता-पिताकी सेवा?

उत्तर—माता-पिताकी सेवा एक नम्बरमें है और देशकी सेवा दो नम्बरमें। कारण कि हमें माता-पिताने शरीर दिया है, उसका पालन-पोषण किया है, पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया है, इसलिये उनका हमारेपर ऋण है। पहले ऋण चुकाना चाहिये, फिर देशसेवा, दान आदि करना चाहिये। ऋण चुकाये बिना दान आदि करनेका अधिकार ही नहीं है॥ ३८७॥

प्रश्न—जैसे हमें जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अधीन होता है, ऐसे ही दूसरे व्यक्तिको भी जो कुछ मिलेगा, वह भी प्रारब्धके अधीन होगा, फिर हम दूसरेकी सेवा क्यों करें?

उत्तर—यह बात ठीक है कि दूसरे व्यक्तिको वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें होगा। परन्तु हमें उसकी तरफ न देखकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका विभाग अलग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे दोष लगता है। अत: हमें अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) कर देना है, चाहे उसको प्रारब्धके अनुसार मिले या न मिले। बालक बीमार होता है और माता उसकी बीमारी ठीक नहीं कर सकती तो क्या वह उसकी सेवा करना छोड़ देती है? ऐसे ही जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे माँकी तरह कृपापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। इससे कर्तव्यपरायणता, हितैषिता और दयालुता पैदा होती है, जो दैवी-सम्पत्तिका गुण है। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—**'दैवी सम्पद्विमोक्षाय'** (गीता १६। ५)॥ ३८८॥

प्रश्न—दूसरेपर प्रतिकूल परिस्थिति आयी है तो वह भगवान्‌के विधानसे आयी है। अत: उसकी सहायता या सेवा करना क्या भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध कार्य करना नहीं है?

उत्तर—भगवान् पिताके समान हैं और भक्त माताके समान। अत: भगवान्‌में 'न्याय' मुख्य है और भक्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्‌से ही आयी है। अत: हमारा कर्तव्य उसकी सेवा करना है। जो दूसरेके दु:खसे दु:खी नहीं होता, वह स्वार्थी और अभिमानी होता है। उसका अन्त:करण कठोर होता है। वह सात्त्विक न होकर राजसी-तामसी होता है।

एक बार चमारोंकी बस्तीमें आग लग गयी और उनके घर जलकर नष्ट हो गये। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने उनके नये घर बनवा दिये। दुबारा आग लग गयी और वे घर पुन: नष्ट हो गये। सेठजीने पुन: घर बनानेके लिये कहा। लोगोंने कहा कि दुबारा आग लगनेसे मालूम होता है कि भगवान्‌की मरजी नहीं है, वे घर जलाना चाहते हैं। सेठजीने उत्तर दिया कि भगवान्‌का काम जलानेका है और हमारा काम बनानेका है। सेठजीने पुन: उनके घर बनवाये॥ ३८९॥

प्रश्न—सेवाधर्मको कठोर क्यों कहा गया है—*'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* (मानस, अयोध्या० २०३। ४)?

उत्तर—सुख-आराममें आसक्ति होनेसे ही सेवा कठिन दीखती है—***'सेवक सुख चह मान भिखारी'*** (मानस, अरण्य० १७। ८)। अपने सुख-आरामका त्याग करें तो सेवा कठिन नहीं है; क्योंकि सेवा करनेकी सब सामग्री संसारकी ही है, अपनी नहीं। उस सामग्रीको अपने सुखमें लगानेसे सेवा नहीं होती॥ ३९०॥

प्रश्न—दु:खीको देखकर करुणित होना उसकी सेवा है, कैसे?

उत्तर—करुणित होनेसे भगवान् उसपर कृपा करते हैं और अपना

अन्त:करण भी निर्मल होता है। सुखीको देखकर प्रसन्न होना भी सेवा है, जिससे अपना अन्त:करण शुद्ध होता है। दूसरेके सुख-दु:खका असर न पड़नेसे अन्त:करण अशुद्ध एवं कठोर होता है॥ ३९१॥

प्रश्न—जड़को जड़की सेवामें लगा देनेसे जड़का प्रवाह जड़की ओर हो जायगा और चेतन असंग होकर मुक्त हो जायगा—यह कर्मयोगकी बात समझमें नहीं आयी; क्योंकि वास्तवमें जड़की सेवा नहीं होती, प्रत्युत चेतनकी सेवा होती है। जैसे, सचेतन शरीरके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा होती है, पर अचेतन मुर्देके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा नहीं होती!

उत्तर—वास्तवमें सेवा जड़के द्वारा ही होती है और जड़तक ही पहुँचती है। कारण कि क्रिया और उसका फल (पदार्थ)—दोनों ही आदि-अन्तवाले होनेसे जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। परन्तु चेतनने शरीर (जड़)-से तादात्म्य किया है, उससे अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये शरीरकी सेवा चेतन (शरीरके मालिक)-की मानी जाती है। ज्ञानयोगमें भी जड़ मन-बुद्धिके द्वारा ही जड़का त्याग किया जाता है—**'गुणा: गुणेषु वर्तन्ते'** (गीता ३। २८)॥ ३९२॥

प्रश्न—धनादि पदार्थोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब जड़ पदार्थ सेवाके करण (साधन) है। इन करणोंसे सेवा करनेवाला चेतन ही हो सकता है, जड़ कैसे होगा?

उत्तर—जिसने शरीरसे अपना सम्बन्ध माना है, वही कर्ता होता है—**'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'** (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि अहंकारविमूढात्मा ही कर्ता होता है, वही सेवा करता है॥ ३९३॥

प्रश्न—सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है—इसमें 'सेवा' होना क्या है?

उत्तर—सेवाका अभिमान अर्थात् सेवकपना न रहना ही 'सेवा' होना है॥ ३९४॥

प्रश्न—सेवा करनेपर अभिमान न आये, इसका क्या उपाय है?

उत्तर—किसीकी भी सेवा करें, चाहे कुत्ते और गधेकी ही क्यों न करें, उसको अपनेसे ऊँचा मानकर, भगवान् मानकर सेवा करें। फिर अभिमान नहीं आयेगा॥ ३९५॥

सेवा

प्रश्न—सेवाका मूल क्या है?

उत्तर—किसीको भी दुःख न पहुँचाना, किसीका भी अहित न करना॥ ३८६ ॥

प्रश्न—देशकी सेवा बड़ी है या माता-पिताकी सेवा?

उत्तर—माता-पिताकी सेवा एक नम्बरमें है और देशकी सेवा दो नम्बरमें। कारण कि हमें माता-पिताने शरीर दिया है, उसका पालन-पोषण किया है, पढ़ा-लिखाकर योग्य बनाया है, इसलिये उनका हमारेपर ऋण है। पहले ऋण चुकाना चाहिये, फिर देशसेवा, दान आदि करना चाहिये। ऋण चुकाये बिना दान आदि करनेका अधिकार ही नहीं है॥ ३८७ ॥

प्रश्न—जैसे हमें जो कुछ मिलता है, वह प्रारब्धके अधीन होता है, ऐसे ही दूसरे व्यक्तिको भी जो कुछ मिलेगा, वह भी प्रारब्धके अधीन होगा, फिर हम दूसरेकी सेवा क्यों करें?

उत्तर—यह बात ठीक है कि दूसरे व्यक्तिको वही मिलेगा, जो उसके प्रारब्धमें होगा। परन्तु हमें उसकी तरफ न देखकर अपने कर्तव्यका पालन करना है। कर्तव्यका विभाग अलग है। कर्तव्यका त्याग करनेसे दोष लगता है। अतः हमें अपने कर्तव्यका पालन (सेवा) कर देना है, चाहे उसको प्रारब्धके अनुसार मिले या न मिले। बालक बीमार होता है और माता उसकी बीमारी ठीक नहीं कर सकती तो क्या वह उसकी सेवा करना छोड़ देती है? ऐसे ही जो सज्जन पुरुष होते हैं, वे माँकी तरह कृपापूर्वक अपने कर्तव्यका पालन करते हैं। इससे कर्तव्यपरायणता, हितैषिता और दयालुता पैदा होती है, जो दैवी-सम्पत्तिका गुण है। दैवी-सम्पत्ति मुक्तिके लिये होती है—'**दैवी सम्पद्विमोक्षाय**' (गीता १६। ५) ॥ ३८८ ॥

प्रश्न—दूसरेपर प्रतिकूल परिस्थिति आयी है तो वह भगवान्‌के विधानसे आयी है। अतः उसकी सहायता या सेवा करना क्या भगवान्‌के विधानसे विरुद्ध कार्य करना नहीं है?

उत्तर—भगवान् पिताके समान हैं और भक्त माताके समान। अतः भगवान्‌में 'न्याय' मुख्य है और भक्तोंमें 'दया' मुख्य है, जबकि यह दया भी भगवान्‌से ही आयी है। अतः हमारा कर्तव्य उसकी सेवा करना है। जो दूसरेके दुःखसे दुःखी नहीं होता, वह स्वार्थी और अभिमानी होता है। उसका अन्तःकरण कठोर होता है। वह सात्त्विक न होकर राजसी-तामसी होता है।

एक बार चमारोंकी बस्तीमें आग लग गयी और उनके घर जलकर नष्ट हो गये। सेठजी (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)-ने उनके नये घर बनवा दिये। दुबारा आग लग गयी और वे घर पुनः नष्ट हो गये। सेठजीने पुनः घर बनानेके लिये कहा। लोगोंने कहा कि दुबारा आग लगनेसे मालूम होता है कि भगवान्‌की मरजी नहीं है, वे घर जलाना चाहते हैं। सेठजीने उत्तर दिया कि भगवान्‌का काम जलानेका है और हमारा काम बनानेका है। सेठजीने पुनः उनके घर बनवाये॥ ३८९॥

प्रश्न—सेवाधर्मको कठोर क्यों कहा गया है—*'सब तें सेवक धरमु कठोरा'* (मानस, अयोध्या० २०३। ४)?

उत्तर—सुख-आराममें आसक्ति होनेसे ही सेवा कठिन दीखती है—***'सेवक सुख चह मान भिखारी'*** (मानस, अरण्य० १७। ८)। अपने सुख-आरामका त्याग करें तो सेवा कठिन नहीं है; क्योंकि सेवा करनेकी सब सामग्री संसारकी ही है, अपनी नहीं। उस सामग्रीको अपने सुखमें लगानेसे सेवा नहीं होती॥ ३९०॥

प्रश्न—दुःखीको देखकर करुणित होना उसकी सेवा है, कैसे?

उत्तर—करुणित होनेसे भगवान् उसपर कृपा करते हैं और अपना

अन्तःकरण भी निर्मल होता है। सुखीको देखकर प्रसन्न होना भी सेवा है, जिससे अपना अन्तःकरण शुद्ध होता है। दूसरेके सुख-दुःखका असर न पड़नेसे अन्तःकरण अशुद्ध एवं कठोर होता है॥ ३९१॥

प्रश्न—जड़को जड़की सेवामें लगा देनेसे जड़का प्रवाह जड़की ओर हो जायगा और चेतन असंग होकर मुक्त हो जायगा—यह कर्मयोगकी बात समझमें नहीं आयी; क्योंकि वास्तवमें जड़की सेवा नहीं होती, प्रत्युत चेतनकी सेवा होती है। जैसे, सचेतन शरीरके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा होती है, पर अचेतन मुर्देके मुखमें अन्न-जल डालनेसे उसकी सेवा नहीं होती!

उत्तर—वास्तवमें सेवा जड़के द्वारा ही होती है और जड़तक ही पहुँचती है। कारण कि क्रिया और उसका फल (पदार्थ)—दोनों ही आदि-अन्तवाले होनेसे जड़में ही रहते हैं, चेतनतक पहुँचते ही नहीं। परन्तु चेतनने शरीर (जड़)-से तादात्म्य किया है, उससे अपना सम्बन्ध माना है, इसलिये शरीरकी सेवा चेतन (शरीरके मालिक)-की मानी जाती है। ज्ञानयोगमें भी जड़ मन-बुद्धिके द्वारा ही जड़का त्याग किया जाता है—'**गुणाः गुणेषु वर्तन्ते**' (गीता ३। २८)॥ ३९२॥

प्रश्न—धनादि पदार्थोंसे लेकर बुद्धिपर्यन्त सब जड़ पदार्थ सेवाके करण (साधन) है। इन करणोंसे सेवा करनेवाला चेतन ही हो सकता है, जड़ कैसे होगा?

उत्तर—जिसने शरीरसे अपना सम्बन्ध माना है, वही कर्ता होता है—'**अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। तात्पर्य है कि अहंकारविमूढात्मा ही कर्ता होता है, वही सेवा करता है॥ ३९३॥

प्रश्न—सेवक सेवा होकर सेव्यमें लीन हो जाता है—इसमें 'सेवा' होना क्या है?

उत्तर—सेवाका अभिमान अर्थात् सेवकपना न रहना ही 'सेवा' होना है॥ ३९४॥

प्रश्न—सेवा करनेपर अभिमान न आये, इसका क्या उपाय है?

उत्तर—किसीकी भी सेवा करें, चाहे कुत्ते और गधेकी ही क्यों न करें, उसको अपनेसे ऊँचा मानकर, भगवान् मानकर सेवा करें। फिर अभिमान नहीं आयेगा॥ ३९५॥

सृष्टि-रचना

प्रश्न—परमात्मा चेतन हैं, उनसे जड़ संसार कैसे पैदा होता है?

उत्तर—जैसे प्राणीसे नख, केश आदि निष्प्राण वस्तुएँ भी पैदा होती हैं, ऐसे ही चेतन परमात्मतत्त्वसे जड़ संसार पैदा होता है॥ ३९६॥

प्रश्न—अक्रिय तत्त्वसे क्रियाएँ कैसे पैदा होती हैं?

उत्तर—जैसे हिमालयसे नदियाँ निकलती हैं, ऐसे ही अक्रिय परमात्मतत्त्वसे सम्पूर्ण क्रियाएँ पैदा होती हैं। जैसे हिमालयमें द्रवता है, ऐसे ही निर्गुण तत्त्वमें भी एक शक्ति है, जो जगत्‌की सृष्टि-स्थिति-प्रलय करती है। यदि तत्त्वमें कोई शक्ति न होती तो सृष्टिकी रचना कैसे होती? उसी शक्तिसे सम्पूर्ण क्रियाएँ पैदा होती हैं। जैसे चुम्बककी शक्तिसे लोहा घूमता है, ऐसे ही सत्ताके द्वारा सब क्रियाएँ होती हैं॥ ३९७॥

प्रश्न—रज-वीर्यका संयोग होनेपर ही शरीरका निर्माण होता है, फिर अगस्त्य आदिकी उत्पत्ति केवल वीर्यसे (रजके संयोगके बिना) कैसे हुई?

उत्तर—वास्तवमें जीवकी उत्पत्तिमें वीर्य ही मुख्य है। रज तो खेत है, पर वीर्य बीज है। समर्थ पुरुषके वीर्यमें इतनी शक्ति होती है कि वह रजके बिना भी जीवको उत्पन्न कर सकता है। जैसे, कोई भी बीज जमीन (मिट्टी)-में डालनेसे ही अंकुरित होता है, पर चने केवल जलमें भिगोनेसे ही अंकुरित हो जाते हैं। समर्थ पुरुष तो अपने संकल्पमात्रसे ही सृष्टि पैदा कर सकते हैं॥ ३९८॥

प्रश्न—सृष्टि-रचनाका कार्य भगवान्‌के अधीन है, सन्त-महापुरुषके अधीन नहीं है—'जगद्व्यापारवर्जम्' (ब्रह्मसूत्र ४। ४। १७), फिर विश्वामित्रजीने सृष्टिकी रचना कैसे की?

उत्तर—विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे सृष्टिकी रचना की। तपोबलसे जो कार्य किया जाता है, वह सीमित होता है। इसलिये विश्वामित्रजीकी सृष्टि भी सीमित रही। विश्वामित्रजीका बल तपसे पैदा किया हुआ है, पर भगवान्‌का बल पैदा किया हुआ नहीं है, प्रत्युत स्वतः-स्वाभाविक है। भगवान् तो युक्तयोगी हैं, पर विश्वामित्रजी युञ्जानयोगी हैं॥ ३९९॥

प्रश्न—शास्त्रोंमें अनेक प्रकारसे सृष्टि-रचनाका वर्णन आता है, इसका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—इसका तात्पर्य है कि वास्तवमें संसार नहीं है, केवल परमात्मा ही हैं—**'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'** (गीता २। १६)। यदि संसार सत्य होता तो एक तरहका ही वर्णन होता। तरह-तरहका वर्णन होनेसे ही यह सिद्ध होता है कि संसार है नहीं। वास्तवमें परमात्मा ही हैं, जो और तरहके होते ही नहीं। सृष्टि परमात्मासे पैदा हुई अर्थात् सबके मूलमें एक परमात्मा ही हैं—यह बात सबमें एक ही है॥ ४००॥

प्रश्न—भगवान्‌ने संसार क्यों बनाया?

उत्तर—जीव भोगोंको चाहता है, इसलिये भगवान्‌ने उसके लिये संसारको बनाया। जैसे, पिता रुपये खर्च करके भी बालकको मिट्टीका खिलौना लाकर देता है; क्योंकि बालक वही चाहता है! वास्तवमें मनुष्य-शरीर भोग भोगनेके लिये है ही नहीं—***'एहि तन कर फल बिषय न भाई'*** (मानस, उत्तर० ४४। १)। भगवान्‌ने वस्तुएँ दी हैं दूसरोंकी सेवाके लिये, जिससे दूसरोंकी सेवा करके जीव निर्मम-निरहंकार होकर मुक्त हो जाय। भगवान् चाहते हैं कि यह संसारकी सेवा करे और मेरेसे प्रेम करे। परन्तु जीवने मिली हुई वस्तुको तो अपना मान

लिया, पर देनेवाले (भगवान्)-को अपना नहीं माना, इसीलिये मिले हुए प्राणी पदार्थोंमें ही उलझ गया!

तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्‌ने जीवके उद्धारके लिये ही संसार बनाया है॥ ४०१॥

प्रश्न—जगत्‌को ईश्वरने बनाया है या जीवने?

उत्तर—भगवान्‌से पैदा हुई सृष्टि वास्तवमें भगवद्रूप ही है, पर जगद्रूपसे सृष्टि जीवकृत है। जीवने ही जगत्‌को जगद्रूप दिया है—**'ययेदं धार्यते जगत्'** (गीता ७। ५)। इसलिये जगत् न तो परमात्माकी दृष्टिमें है, न महात्माकी दृष्टिमें है, प्रत्युत जीवकी दृष्टिमें है। स्वार्थबुद्धिसे देखें तो जगत् है और परमार्थबुद्धिसे देखें तो परमात्मा हैं। जीवभाव अर्थात् अहम्‌के मिटनेपर जगत् नहीं मिटता, प्रत्युत जगत् भगवद्रूप हो जाता है॥ ४०२॥

स्वरूप (स्वयं)

प्रश्न—स्वरूपका बोध तत्काल कैसे हो?

उत्तर—वास्तवमें स्वरूपका बोध सबको तत्काल ही हो रहा है! जैसे—सबको यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ'। इसमें यदि 'मैं' को छोड़कर 'हूँ' में रहें तो स्वरूपका बोध हो जायगा; क्योंकि 'मैं' के हटते ही 'हूँ' 'है' हो जायगा। खास बाधा 'मैं' की ही है॥ ४०३॥

प्रश्न—कुछ भी करें, 'मैं' आ ही जाता है?

उत्तर—वास्तवमें 'मैं' है ही नहीं। 'मैं' आ जाता है—इस धारणासे ही 'मैं' आता है!॥ ४०४॥

प्रश्न—दूधमें घीकी तरह शरीरसे मिले हुए आत्माका अलग अनुभव कैसे हो?

उत्तर—दृष्टान्त केवल एक अंशमें घटता है, सर्वथा नहीं घटता।

वास्तवमें दूध, घीकी तरह शरीरसे आत्मा मिला हुआ नहीं है*; मिल सकता ही नहीं, केवल हमने मिला हुआ मान लिया है—'**कर्ताहमिति मन्यते**' (गीता ३। २७)। शरीर और आत्माका तादात्म्य हुआ नहीं है, प्रत्युत माना हुआ है। कुछ-न-कुछ क्रिया करनेसे ही शरीरके साथ सम्बन्ध दीखता है। कुछ भी न करें तो शरीरका क्या सम्बन्ध?

जैसे सूर्य और अंधकारका मिलन नहीं हो सकता, ऐसे ही आत्मा और शरीरका मिलन नहीं हो सकता। चेतन जड़से, सत् असत्से, अविनाशी नाशवान्से कैसे मिल सकता है? परन्तु अनादिकालके संस्कारके कारण झूठी मान्यता भी सत्यकी तरह दीखती है। यह मान्यता उद्योगसे, अभ्याससे नहीं मिटती, प्रत्युत विवेक-विचारसे मिटती है॥ ४०५॥

प्रश्न—सत्ता सर्वव्यापक है, फिर अपनेमें एकदेशीयताका अनुभव क्यों होता है?

उत्तर—एकदेशीयताका अनुभव वास्तवमें अहंकारका अनुभव है। परमात्माकी अनन्त सत्ता ही अहंकारके कारण एकदेशीय दीखती है। तात्पर्य है कि सर्वव्यापक सत्ताको मन-बुद्धिसे पकड़नेपर अथवा मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार होनेसे ही एकदेशीयता दीखती है। बुद्धिका भी जो प्रकाशक है, वह अहम्‌के अधीन नहीं है। वही हमारा स्वरूप है। हमारा होनापन और परमात्माका होनापन एक ही है। वही उत्पत्तिका आधार और प्रतीतिका प्रकाशक है। प्रतीतिकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। व्यवहारके समय तो मन, बुद्धि और अहम्‌की प्रतीति होती है, पर व्यवहाररहित अवस्थामें न मन है, न बुद्धि है, न अहम् है। चाहे व्यवहारकी अवस्था हो, चाहे व्यवहाररहित अवस्था हो, 'है' में क्या फर्क पड़ता है!॥ ४०६॥

---

* अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते॥ (गीता १३। ३१)

'हे कुन्तीनन्दन! यह पुरुष स्वयं अनादि होनेसे और गुणोंसे रहित होनेसे अविनाशी परमात्मस्वरूप ही है। यह शरीरमें रहता हुआ भी न करता है और न लिप्त होता है।'

प्रश्न—मन, बुद्धि और अहम्‌के संस्कार कैसे दूर हों?

उत्तर—मन, बुद्धि और अहम्‌को छेड़ो मत। उनको मत देखो, प्रत्युत एक 'है' को देखो। एकदेशीयपना मिट जाय—यह भी मत देखो। कुछ भी मत देखो, चुप हो जाओ, फिर सब स्वतः ठीक हो जायगा। समुद्रमें बर्फके ढेले तैरते हों तो उनको न गलाना है, न रखना है। इसीको सहजावस्था कहते हैं॥ ४०७॥

प्रश्न—अपनी सत्तामें जो एकदेशीयपना दीखता है, वह कैसे छूटे?

उत्तर—एकदेशीयपना छोड़नेके लिये 'है' को पकड़ना चाहिये। वस्तुएँ अलग-अलग और एकदेशीय होती हैं, पर उन सबमें 'है' एक ही होता है। कल्पित वस्तुएँ मिट जाती हैं और 'है' रह जाता है। उस 'है' के ऊपर सब वस्तुएँ दीखती हैं; जैसे—है मनुष्य, है वस्तु आदि। परन्तु वस्तुओंके ऊपर 'है' माननेसे 'है' समझमें नहीं आता; जैसे—मनुष्य है, वस्तु है आदि।

सत्ता एक ही है। वही एक सत्ता एकदेशीय होनेसे हमारा स्वरूप है और सर्वदेशीय होनेसे परमात्मा है। शरीरके सम्बन्धसे अपनी सत्ता दीखती है और संसारके सम्बन्धसे परमात्माकी सत्ता दीखती है। शरीर-संसारका सम्बन्ध न रहे तो एक ही चिन्मय सत्ता रह जाती है और शरीर-संसारकी सत्ता लुप्त हो जाती है। कारण कि शरीर-संसार असत् हैं।

स्वयं परमात्माका ही अंश है। अतः जैसे पानीका लोटा समुद्रमें मिला दें, ऐसे ही स्वयंको परमात्माके अर्पित करके चुप हो जायँ तो वह एकदेशीयता अपने-आप मिट जायगी॥ ४०८॥

प्रश्न—हमारा स्वरूप 'सहज सुखराशि' है—*'ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥'* (मानस, उत्तर० ११७। १)। यह सहज सुख लुप्त कैसे हुआ?

उत्तर—इसका मुख्य कारण है—अपनेको शरीर मानना। अपनेको शरीर मानना अपने विवेकका अनादर है। विवेकका आदर करनेके लिये ही भगवान्‌ने गीताके आरम्भमें शरीर-शरीरीका विवेचन किया है॥ ४०९॥

प्रश्न—'मैं हूँ'—इस अपने होनेपन (स्वरूप) का अनुभव तो सबको होता है, फिर तत्त्वज्ञानीको अपने होनेपनका अनुभव कैसा होता है?

उत्तर—सबको अपने होनेपनका जो अनुभव होता है, उसमें जड़ (बुद्धि या अहम्) साथमें मिला हुआ रहता है। अत: वह वास्तवमें 'असत्‌का अनुभव' है। परन्तु तत्त्वज्ञानीको शुद्ध स्वरूपका अनुभव होता है, जिसके साथ जड़ मिला हुआ नहीं है॥ ४१०॥

प्रश्न—संसारपर विश्वास करना तो महान् घातक है, पर कोई अपने-आपपर विश्वास करे तो?

उत्तर—वह अपने-आपको क्या मानता है—यह देखना होगा। अगर वह अपनेको 'शरीर' मानता है तो उसका वही फल होगा, जो संसारपर विश्वास करनेका होता है। अगर वह अपनेको 'चिन्मय सत्ता' मानता है तो उसका वही फल होगा जो (ज्ञानमार्गमें) परमात्मतत्त्वपर विश्वास करनेका होता है। कारण कि शरीर तथा संसार एक हैं और स्वरूप तथा परमात्मा एक हैं॥ ४११॥

प्रश्न—हरेक व्यक्तिमें कोई-न-कोई विशेषता रहती ही है। फिर दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखनेसे बन्धन कैसे?

उत्तर—विशेषता व्यक्तियोंमें है, अपनेमें अर्थात् स्वरूपमें नहीं। व्यक्तिभेद तो रहेगा ही, पर स्वरूपभेद होता ही नहीं। व्यक्तित्व रहनेसे अर्थात् जड़, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध होनेसे ही अपनेमें विशेषता दीखती है। अपनेमें विशेषता देखनेसे व्यक्तित्व पुष्ट होता है। अत: जबतक अपनेमें दूसरेकी अपेक्षा विशेषता दीखती है, तबतक बन्धन है॥ ४१२॥

प्रश्न—स्वरूपमें भी विशेषता तो है ही, फिर स्वरूपमें विशेषता नहीं—ऐसा कहनेका तात्पर्य?

विशेषता स्वरूपमें नहीं आ सकती। विशेषता देखते ही प्रकृतिकी सत्ता आती है; क्योंकि प्रकृतिके बिना विशेषता आ नहीं सकती। अत: वास्तवमें स्वरूपमें विशेषता नहीं है, प्रत्युत स्वरूप ही विशेष है! सूर्यमें प्रकाश नहीं है, प्रत्युत सूर्य प्रकाशस्वरूप ही है॥ ४१३॥

समाज-सुधार

प्रश्न—समाज-सुधारका उपाय क्या है?

उत्तर—अपने सुधारसे स्वतः समाज-सुधार होता है; क्योंकि व्यक्ति भी समाजका ही अंग है। व्यक्तिगत जीवन तो ठीक न हो, पर बातें बढ़िया कहें तो न अपना सुधार होगा, न समाजका। वेश्या यदि पातिव्रत्यका उपदेश दे तो वह कैसे लगेगा? अतः बातें बढ़िया नहीं, अपना जीवन बढ़िया होना चाहिये। समाज-सुधारकी चेष्टा न करके अपने सुधारकी चेष्टा करनी चाहिये। अपना सुधार होगा—स्वार्थ और अभिमानका त्याग करके दूसरेका हित करनेसे॥ ४१४॥

प्रश्न—सरकारके द्वारा अपराधीको मृत्युदण्ड देना उचित है या अनुचित?

उत्तर—मृत्युदण्ड देना उचित है। यह सर्वथा पाप-रहित करनेका दण्ड है। मृत्युदण्डसे पापी व्यक्तिकी शुद्धि होती है और लोगोंमें पाप न करनेकी वृत्ति होती है॥ ४१५॥

प्रश्न—'दयाकी मृत्यु' उचित है या अनुचित?

उत्तर—यह दया नहीं है, प्रत्युत बेसमझी है। डॉक्टरका कर्तव्य यही है कि वह रोगीको यथाशक्ति जीवित रखनेका प्रयत्न करे; क्योंकि कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता। जो रोगी वर्षोंसे बेहोश है, वह कभी होशमें भी आ सकता है। ऐसी घटना मेरी देखी हुई है॥ ४१६॥

प्रश्न—चारों वर्णों और आश्रमोंमें कौन-सा वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है?

उत्तर—वही वर्ण और आश्रम श्रेष्ठ है, जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। जो अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह छोटा हो जाता है॥ ४१७॥

प्रश्न—समाजमें तरह-तरहके रीति-रिवाज प्रचलित हैं। उनमें कौन-सा ठीक है, कौन-सा बेठीक—इसका निर्णय कैसे करें?

उत्तर—जिसमें अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो, वही ठीक है॥ ४१८॥

प्रकीर्ण

प्रश्न—एक तरफ कहा जाता है कि आशा मत रखो—'आशा हि परमं दु:खम्' और दूसरी तरफ कहा जाता है कि आशावादी बनो। क्या करना चाहिये?

उत्तर—दोनों बातें ठीक हैं। आशा न रखनेका तात्पर्य है—संसारकी आशा मत रखो और आशावादी बननेका तात्पर्य है—अपनी उन्नतिसे अथवा भगवत्प्राप्तिसे निराश मत होओ। सत्यकी आशा रखो, असत्‌की आशा मत रखो॥ ४१९॥

प्रश्न—अविद्या और विपर्ययमें क्या फर्क है?

उत्तर—अनित्य, अशुचि, अनात्मा और दु:खमें विपरीत (नित्य, शुचि, आत्मा और सुख) बुद्धि होनेका नाम 'अविद्या' (अज्ञान) है। रस्सीमें साँप दीखना, सज्जनको दुर्जन समझना आदि वृत्ति 'विपर्यय' है। अविद्या खुदमें रहती है और विपर्यय-वृत्ति अन्त:करणमें रहती है। जीवन्मुक्त महापुरुषमें अविद्या-दोष तो नहीं रहता, पर विपर्यय-दोष रह सकता है। इसलिये उनमें व्यवहारकी भूल तो हो सकती है, पर स्वयंकी भूल नहीं होती॥ ४२०॥

प्रश्न—आत्मदृष्टि और परमात्मदृष्टिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—आत्मदृष्टिसे ब्रह्मज्ञान होता है और परमात्मदृष्टिसे प्रेम होता है। आत्मदृष्टिसे 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है और परमात्मदृष्टिसे 'आनन्द' का अनुभव होता है। यद्यपि परमात्म-दृष्टिसे भी 'सत्' तथा 'चित्' का अनुभव होता है, पर मुख्यता आनन्दकी रहती है। ऐसे ही आत्मदृष्टिसे भी 'आनन्द' का अनुभव होता है, पर मुख्यता सत् तथा चित्की रहती है॥ ४२१॥

प्रश्न—आस्तिक और नास्तिक किसे कहते हैं?

उत्तर—जो बिना देखे-सुने भी परमात्माकी सत्ता मानते हैं, वे 'आस्तिक' हैं। जो परमात्माकी सत्ता न मानकर जगत् और जीव (आत्मा) की सत्ता मानते हैं, वे 'नास्तिक' हैं॥ ४२२॥

प्रश्न—चेतन और चिन्मयमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'चेतन' सापेक्ष है अर्थात् जड़की अपेक्षा चेतन है, पर 'चिन्मय' निरपेक्ष है। चिन्मयका अर्थ है—केवल (शुद्ध) चेतन॥ ४२३॥

प्रश्न—स्मार्त और वैष्णवमें क्या अन्तर है?

उत्तर—जो वेदोंको, स्मृतियोंको, पुराणोंको, शास्त्रोंको मानते हैं कि जो वे कहेंगे, वही ठीक है, वे 'स्मार्त' कहलाते हैं। परन्तु जो केवल भगवान्को ही मानते हैं, वे 'वैष्णव' कहलाते हैं। स्मार्तमें कर्मकाण्डकी मुख्यता रहती है और वैष्णवमें भगवान्की मुख्यता रहती है। स्मार्त लौकिक हैं और वैष्णव अलौकिक हैं*॥ ४२४॥

प्रश्न—दरिद्र और धनीकी पहचान क्या है?

उत्तर—जिसको प्राप्त वस्तु आदिमें सन्तोष नहीं है और अप्राप्तकी इच्छा होती है, वह 'दरिद्र' है। उसके पास धन न हो तो भी दरिद्र है, धन हो तो भी दरिद्र है। जिसको प्राप्तमें सन्तोष है और अप्राप्तकी

---

* जगत् (क्षर) तथा जीव (अक्षर)—दोनों लौकिक हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च' और भगवान् इन दोनोंसे विलक्षण अर्थात् अलौकिक हैं—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' (गीता १५। १७)। कर्मयोग और ज्ञानयोग भी लौकिक हैं—'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' (गीता ३। ३)। क्षरको लेकर कर्मयोग और अक्षरको लेकर ज्ञानयोग चलता है, पर भक्तियोग अलौकिक है, जो भगवान्को लेकर चलता है।

इच्छा नहीं है, वह 'धनी' है। उसके पास धन न हो तो भी धनी है, धन हो तो भी धनी है॥ ४२५॥

प्रश्न—भगवान्‌ने कहा है—'*मोहि कपट छल छिद्र न भावा*' (मानस, सुन्दर० ४४। ३) तो कपट और छलमें क्या अन्तर है?

उत्तर—'कपट' तो अपने भीतर होता है, पर 'छल' में दूसरेको ठगता है। दूसरोंमें दोष देखना 'छिद्र' है॥ ४२६॥

प्रश्न—गुरु, शासक और नेता—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—गुरु ज्ञानरूपी प्रकाश देकर मनुष्यको सही मार्गपर लाता है। शासक दण्ड देकर सही मार्गपर लाता है। नेता समझाकर सही मार्गपर लाता है। गुरु सौम्य (दयालु) शासक है, राजा क्रूर शासक है और नेता सामान्य (न सौम्य, न क्रूर) शासक है॥ ४२७॥

प्रश्न—दुःख और करुणामें क्या अन्तर है?

उत्तर—अपने दुःखसे दुःखी होना 'दुःख' है और दूसरेके दुःखसे दुःखी होना 'करुणा' है। दुःखी होना भोग है और करुणित होना त्याग है। दुःखमें अपनी तरफ दृष्टि रहती है और करुणामें दूसरेकी तरफ॥ ४२८॥

प्रश्न—देहात्मा, गौणात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—इनमें क्या भेद है?

उत्तर—शरीरको 'देहात्मा' कहते हैं। पुत्रको 'गौणात्मा' कहते हैं। जिसका देहके साथ सम्बन्ध है, उस अन्तर्यामीको 'अन्तरात्मा' कहते हैं—'**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः**' (गीता १५। १५), '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति**' (गीता १८। ६१)। जिसका देहके साथ सम्बन्ध नहीं है, उसको 'परमात्मा' कहते हैं॥ ४२९॥

प्रश्न—निर्विकल्प स्थिति और निर्विकल्प बोधमें क्या अन्तर है?

उत्तर—निर्विकल्प स्थिति कारणशरीरमें होती है और निर्विकल्प बोध स्वयंमें होता है। निर्विकल्प स्थिति सविकल्पमें बदल जाती है, पर निर्विकल्प बोध सविकल्पमें नहीं बदलता। स्थिति बदलती है, बोध नहीं बदलता—'**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**' (गीता १४। २)। निर्विकल्प बोध अखण्ड, नित्य, स्वतः-स्वाभाविक और निरपेक्ष

होता है॥ ४३०॥

प्रश्न—सफाई और शुद्धिमें क्या अन्तर है?

उत्तर—सफाई और शुद्धि (पवित्रता) में बहुत अन्तर है। हड्डीको साफ कर सकते हैं, पर शुद्ध नहीं कर सकते। कौन-सी वस्तु शुद्ध है—इसको शास्त्र-प्रमाणसे ही जान सकते हैं। जैसे, अन्य जलोंकी अपेक्षा गंगाजल पवित्र है। गायके गोबर-गोमूत्र भी पवित्र हैं॥ ४३१॥

प्रश्न—कारणशरीरकी स्थिरता और स्वरूपकी स्थिरतामें क्या अन्तर है?

उत्तर—कारणशरीरकी स्थिरता सापेक्ष है अर्थात् चंचलताकी अपेक्षा स्थिरता है। परन्तु स्वयंकी स्थिरता निरपेक्ष है। स्वयं कारणशरीरकी स्थिरताका भी प्रकाशक, साक्षी है॥ ४३२॥

प्रश्न—रामायणमें आया है—*'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई'* (बाल० ३। ५) और *'मूरुख हृदयँ न चेत जौं गुर मिलहिं बिरंचि सम'* (लंका० १६ ख) तो 'शठ' और 'मूर्ख' में क्या अन्तर है?

उत्तर—प्रत्येक कवि या लेखकके शब्दोंमें उनका अपना एक विशेष अर्थ होता है। यहाँ 'शठ' वह है, जो जानता नहीं और 'मूर्ख' वह है, जो जानता तो है, पर मानता नहीं॥ ४३३॥

प्रश्न—मुक्त और प्रेमी—दोनोंके व्यवहारमें क्या फर्क होता है?

उत्तर—मुक्तका व्यवहार समताका, उदासीनताका होता है, पर प्रेमीका व्यवहार प्रेमपूर्ण होता है; क्योंकि भगवान् प्यारे लगते हैं तो उनकी हर चीज प्यारी लगती है॥ ४३४॥

प्रश्न—सीखा हुआ और जाना हुआ—दोनोंमें क्या फर्क है?

उत्तर—सीखा हुआ बुद्धिका विषय होता है और जाना हुआ बुद्धिका प्रकाशक होता है। बुद्धिके अन्तर्गत सीखा हुआ है और जाने हुएके अन्तर्गत बुद्धि है। सीखा हुआ तो दृढ़-अदृढ़ दोनों होता है, पर जाना हुआ अदृढ़ होता ही नहीं॥ ४३५॥

प्रश्न—सीखना, समझना और अनुभव करना—तीनोंमें क्या अन्तर है?

उत्तर—इसको इस उदाहरणसे समझना चाहिये—छोटी बच्ची 'सीख' लेती है कि यह मेरी माँ है। वह माँ क्यों हैं, कैसे है—यह वह नहीं जानती। जब वह कुछ बड़ी होती है, तब वह 'समझती' है कि उसने मेरेको जन्म दिया है, इसलिये वह मेरी माँ है। विवाहके बाद जब वह खुद माँ बनती है, बालकको जन्म देती है, तब उसको 'अनुभव' होता है कि इस तरह माँने मेरेको जन्म दिया था॥ ४३६॥

प्रश्न—सिद्धान्त और नियममें क्या अन्तर है?

उत्तर—सिद्धान्त माननेका और नियम पालन करनेका होता है॥ ४३७॥

प्रश्न—स्वाभिमान और अभिमानमें क्या अन्तर है?

उत्तर—स्वाभिमान सात्त्विक होता है और अभिमान तामसी। मैं साधक हूँ तो साधनसे विरुद्ध कार्य कैसे कर सकता हूँ? मैं चोरी कैसे कर सकता हूँ—यह 'स्वाभिमान' है। मैं साधक हूँ, दूसरे असाधक हैं—इस प्रकार दूसरेकी अपेक्षा अपनेमें विशेषता देखना 'अभिमान' है। अभिमान होनेसे मनुष्य साधन-विरुद्ध कार्य कर बैठेगा और स्वाभिमान होनेसे उसको साधन-विरुद्ध कार्य करनेमें लज्जा होगी॥ ४३८॥

प्रश्न—मुमुक्षा और जिज्ञासामें क्या अन्तर है?

उत्तर—मुमुक्षामें साधक अपनी मुक्ति चाहता है, इसलिये उसमें व्यक्तित्व रहता है। मुमुक्षासे भी तत्त्वकी जिज्ञासा अच्छी है और उससे भी प्रेमकी पिपासा अच्छी है॥ ४३९॥

प्रश्न—जिज्ञासा स्वयंमें होती है अथवा बुद्धि या अहम्‌में?

उत्तर—जिज्ञासा स्वयंमें होती है। भावरूप स्वयंमें ही अभावका अनुभव होता है, तभी जिज्ञासा होती है। यदि ऐसा मानें कि जिज्ञासा अहम्‌में होती है तो अहम्‌का मालिक कौन है? अहम्‌के साथ किसने सम्बन्ध जोड़ा है? मैं वही हूँ—यह प्रत्यभिज्ञा किसमें होती है? मानना पड़ेगा कि स्वयं (चेतन) ही अहम्‌का मालिक है, वही अहम्‌के साथ सम्बन्ध जोड़ता है और उसीमें प्रत्यभिज्ञा होती है। स्वयंने जितने अंशमें अहम्‌से सम्बन्ध माना है, अहम्‌को स्वीकार किया है, उतने अंशमें अज्ञान है। जगत्‌की सत्ता स्वयंने ही मानी है—'**ययेदं धार्यते जगत्**'

(गीता ७। ५)। अतः स्वयंमें ही जिज्ञासा होती है और स्वयंको ही बोध होता है। बोध होनेपर स्वयंमें फर्क पड़ता है। स्वयंमें फर्क पड़नेपर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंमें भी फर्क पड़ता है॥ ४४०॥

प्रश्न—सावधान रहना बढ़िया है या उदासीन रहना?

उत्तर—कर्तव्यका पालन करनेमें सावधान रहे, पर भीतरसे उदासीन रहे। उदासीन रहनेका अर्थ है—राग-द्वेष न रखे, पक्षपात न करे, तटस्थ रहे॥ ४४१॥

प्रश्न—पहले लोग अन्यायको नहीं सहते थे, पर आजकल अन्यायको सहते हैं। क्या अन्यायको सहना उचित है?

उत्तर—अन्यायको सहना उचित नहीं है। अन्यायी आदमी ही अन्यायको सहता है—*'चोर चोर मौसेरे भाई'*?॥ ४४२॥

प्रश्न—जब आवश्यक वस्तु स्वतः प्राप्त होती है तो फिर अनेक लोग शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका अभाव क्यों भोगते हैं?

उत्तर—उन्होंने पूर्वजन्ममें अन्न, जल आदि शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग किया था, तभी उनकी तंगी भोगनी पड़ती है। इसलिये अब तंगी भोगना ही उनके लिये आवश्यक है। तात्पर्य है कि जैसे शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंकी आवश्यकता है, ऐसे ही पहले किये गये कर्मोंका फल भोगनेकी भी आवश्यकता है। अतः मनुष्यको शरीर-निर्वाहकी वस्तुओंका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये, उनको निरर्थक नष्ट नहीं करना चाहिये॥ ४४३॥

प्रश्न—अखण्ड स्मृति क्या है?

उत्तर—'मैं हूँ'—इस प्रकार अपने होनेपनका हम निरन्तर अनुभव करते हैं—यही अखण्ड स्मृति है। 'मैं हूँ'—यह ज्ञानकी अखण्ड स्मृति है और 'मैं भगवान्‌का हूँ'—यह भक्तिकी अखण्ड स्मृति है। ज्ञान होनेपर 'मैं' नहीं रहता और 'हूँ' 'है' में बदल जाता है॥ ४४४॥

प्रश्न—दूसरोंको अपना मानें या उनकी उपेक्षा करें, दोनोंमें कौन-सा बढ़िया है?

उत्तर—अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये और दूसरोंके शरीरमें

अपनापन होना चाहिये अर्थात् जैसे अपने शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होती है, ऐसे ही दूसरेके शरीरका दुःख दूर करनेकी चेष्टा होनी चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे अपने शरीरमें अपनापन है, ऐसे दूसरे शरीरोंमें अपनापन होना चाहिये और जैसे संसारकी उपेक्षा है, ऐसे अपने शरीरकी उपेक्षा होनी चाहिये। दूसरोंके हितकी दृष्टिसे व्यवहार चाहे जैसा (यथायोग्य) करें, पर अपनेपनमें फर्क नहीं आना चाहिये।

ज्ञानमार्गमें उदासीनता बढ़िया होती है और कर्मयोग तथा भक्तियोगमें दयालुता बढ़िया होती है॥ ४४५॥

प्रश्न—रामायण, महाभारत आदिकी कथाओंका रूपक बनाना, उन्हें ज्ञानमें घटाना (जैसे—रावण नाम अहंकारका है आदि) क्या उचित है?

उत्तर—इतिहासकी कथाओंका रूपक बनाना ठीक नहीं है। शास्त्रोंमें ज्ञानकी बातोंकी कमी तो है नहीं, फिर रूपक क्यों बनायें? रूपक बनानेसे इतिहासका नाश होता है, भगवान्‌के चरित्रपर आघात होता है॥ ४४६॥

प्रश्न—कीर्तनमें जो सुख मिलता है, वह कौन-सा है?

उत्तर—कीर्तनमें मिलनेवाला सुख सात्त्विक है, जो भगवान्‌की तरफ ले जानेवाला होता है॥ ४४७॥

प्रश्न—एक बात तो यह आती है कि प्रकृति कर्ता है और एक बात यह आती है कि न पुरुष कर्ता है, न प्रकृति कर्ता है, कर्ता कोई नहीं है, केवल मान्यता है—दोनोंमें कौन-सी बात ठीक है?

उत्तर—वास्तवमें कर्ता कोई नहीं है, न पुरुष, न प्रकृति। पर यदि कोई कर्ता मानना ही चाहे तो यही कहेंगे कि कर्तापन प्रकृति (जड़) में है, पुरुष (चेतन) में नहीं। तात्पर्य हुआ कि अगर कर्ता माना जाय तो वह प्रकृतिमें हैं, अन्यथा कोई कर्ता नहीं है॥ ४४८॥

प्रश्न—क्रियाका वेग किसमें है?

उत्तर—क्रियाका वेग प्रकृतिमें है, पर माना है अपनेमें। शरीरमें मैं-पन करनेके कारण क्रियाका वेग अपनेमें दीखता है॥ ४४९॥

प्रश्न—गंगाजीका पूजन करनेसे क्या लाभ?

उत्तर—पूजन करनेसे अन्त:करण शुद्ध, निर्मल होता है। दूसरी बात, जिसका हृदयमें आदर होता है, उसका पूजन अपने-आप होता है॥ ४५०॥

प्रश्न—जीव अनन्त हैं, फिर चौरासी लाखकी ही गणना क्यों?

उत्तर—ऋषियोंने चौरासी लाख जीवोंकी जातियोंकी गणना कर ली थी, इसलिये उन्होंने चौरासी लाख जीव बता दिये। चौरासी लाख जातियोंमें एक-एक जातिमें लाखों-करोड़ों जीव हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, देवता, पितर, गन्धर्व आदि जातियोंको गणनामें नहीं लिया; क्योंकि ये सब देवयोनियाँ हैं, जो सामान्य रूपसे सबको नहीं दीखतीं॥ ४५१॥

प्रश्न—सृष्टिके आरम्भसे ही देव और असुर—ये दो विभाग कैसे हो गये?

उत्तर—प्रकृति और पुरुष-दोनों अनादि हैं—**'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि'** (गीता १३। १९)। प्रकृतिकी प्रधानतासे असुर हो गये और पुरुषकी प्रधानतासे देव हो गये।

वास्तवमें सत्ता एक ही है। परन्तु अपने राग-द्वेषके कारण दो सत्ता दीखती है। अपने राग-द्वेषके कारण ही असुर और देवताका विभाग दीखता है। अपना राग-द्वेष न हो तो असुर और देवतामें क्या फर्क है—**'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'** (गीता ९। १९)। राग-द्वेष न हो तो केवल भगवान्‌की लीला है, खेल है!॥ ४५२॥

प्रश्न—पर भगवान्‌की यह परस्पर विरोधी बातोंवाली लीला समझमें नहीं आयी!

उत्तर—लीलाको समझ नहीं सकते, मान सकते हैं। अगर लीला हमारी समझमें आ जाय तो समझ बड़ी हो जायगी और भगवान् छोटे हो जायँगे!॥ ४५३॥

प्रश्न—आजकल प्राय: यह सुननेमें आता है कि अमुक स्त्री या पुरुषके भीतर अमुक देवी या देवता आता है और बातें बताता है, क्या यह सत्य है?

उत्तर—आजकल पाखण्ड बहुत है। यदि देवी-देवताका शरीरमें

प्रवेश हो जाय तो शरीर उनका तेज सह ही नहीं सकेगा। मनुष्यशरीरमें भूत-प्रेतका प्रवेश हो सकता है। भूत-प्रेतोंमें ऊँच-नीच अनेक जातियाँ होती हैं। भूत-प्रेत भी देवयोनिमें आते हैं। अमरकोषमें आया है—

विद्याधराऽप्सरोयक्षरक्षोगन्धर्व किन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥ (१।१।११)

प्रश्न—धार्मिक सिनेमा देखना चाहिये कि नहीं?

उत्तर—नहीं देखना चाहिये। धार्मिक सिनेमा देखनेमें भी हानि है; क्योंकि फिल्म-निर्माताकी दृष्टि पैसोंकी तरफ तथा साधारण लोगोंकी रुचिकी तरफ रहती है, सत्यकी तरफ नहीं। वे शास्त्रमें लिखी बातोंको तत्त्वसे नहीं समझते। शास्त्रमें जो आया है और सिनेमामें जो दिखाते हैं—दोनोंमें फर्क होनेके कारण धार्मिक सिनेमा देखनेसे नास्तिकता आती है॥ ४५५॥

प्रश्न—कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आती है, जब निर्णय लेना कठिन हो जाता है, हम किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं, उस समय क्या करना चाहिये?

उत्तर—चुप, शान्त होकर भगवान्‌को याद करना चाहिये। समाधान मिल जायगा। अपने स्वार्थका त्याग और दूसरेका हित हो—ऐसा काम करना चाहिये॥ ४५६॥

प्रश्न—पितृलोक क्या है?

उत्तर—स्वर्गकी तरह यह भी एक लोक है, जहाँ पितर रहते हैं। जो उस लोकके अधिकारी होते हैं, वे वहाँ जाते हैं—'**पितॄन्यान्ति पितृव्रताः**' (गीता ९। २५)।

हमारे पितर (पिता, दादा आदि) जिस लोकमें अथवा जिस योनिमें हैं, वह भी पितृलोक है। पितर यदि पशुयोनिमें हैं तो वही पितृलोक है। जिनकी घरमें, परिवारमें ज्यादा आसक्ति होती है, वे पितर बनकर घरमें रहते हैं। उनका कमाया धन हमने लिया है; अतः उनकी सेवा करना हमारा कर्तव्य है॥ ४५७॥

प्रश्न—एकनाथ आदि सन्तोंने श्राद्ध-भोजनके लिये पितरोंका आवाहन किया तो पितर स्वयं कैसे आ गये?

उत्तर—पितर जिस योनिमें हैं, आवाहन करनेपर उनको वहाँ मूर्च्छा आ जाती है और (परकायाप्रवेशकी तरह) वे वहाँ आ जाते हैं। परन्तु यह कोई सामान्य बात नहीं है॥ ४५८॥

प्रश्न—प्रेत किसीको दुःख देता है तो उसको कोई दोष (पाप) लगता है कि नहीं?

उत्तर—उसको कोई दोष नहीं लगता; क्योंकि वह भोगयोनि है और मनुष्यके प्रारब्धके अनुसार ही उसको दुःख देता है। जो सात्त्विक प्रेत होते हैं, वे दुःख नहीं देते। राजस-तामस प्रेत ही दुःख देते हैं। यह नियम है कि दुःखी व्यक्ति ही दूसरोंको दुःख देता है। अतः जो प्रेत खुद दुःखी होते हैं, वे ही दूसरोंको दुःख देते हैं॥ ४५९॥

प्रश्न—हमने कोई गलत कार्य नहीं किया, फिर भी दुष्ट व्यक्तिसे भय क्यों लगता है?

उत्तर—अपनी निर्दोषतापर दृढ़ विश्वास न होनेसे ही भय लगता है। भय तीन कारणोंसे लगता है—अपना आचरण ठीक न होनेसे, अपनी निर्दोषतापर विश्वास न करनेसे और किसी भी वस्तु (शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि)को अपना माननेसे॥ ४६०॥

प्रश्न—मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये और मुझे कुछ नहीं करना है—इन तीनोंके मूलमें क्या है?

उत्तर—मूलमें है—मैं कुछ नहीं हूँ और परमात्मा है॥ ४६१॥

प्रश्न—वेद अनादि हैं और याज्ञवल्क्य आदि ऋषि बादमें हुए हैं, फिर वेदोंमें उन ऋषियोंका वर्णन कैसे आया?

उत्तर—वेद सर्वज्ञ हैं। भगवान्‌ने भी कहा है—'**वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन**' (गीता ७। २६)। अतः उन ऋषियोंकी महत्ता प्रकट करनेके लिये, ब्रह्मविद्याकी महिमा बतानेके लिये वेदोंने पहलेसे ही उनका वर्णन कर दिया। महर्षि वाल्मीकिजीने भी भगवान् रामका

अवतार होनेसे पहले ही रामायणकी रचना कर दी थी! वाल्मीकिजीने कहा है—

भविष्यज्ञानयोगाच्च कृतं रामायणं शुभम्॥

(पद्मपुराण, पाताल० ६६। १७)

'भविष्यज्ञानकी शक्ति होनेके कारण इस रामायणको मैंने पहलेसे बना रखा था।'॥ ४६२॥

प्रश्न—विद्याको केवल सीखे नहीं, प्रत्युत उसका अनुभव करे—इस कथनका तात्पर्य क्या है?

उत्तर—विद्याको अपने और दूसरोंके काममें लाना चाहिये। जिसके पास उस विद्याका अभाव है, उसको वह विद्या देनी चाहिये। केवल जानकारीके लिये विद्याका संग्रह करनेसे अभिमान आता है॥ ४६३॥

प्रश्न—स्त्रीके लिये व्रतका निषेध आया है, पर वह पतिके लिये व्रत रख सकती है क्या?

उत्तर—वह पतिके लिये व्रत रख सकती है और पतिकी आज्ञासे भी व्रत रख सकती है। सती सावित्रीने भी पतिके जीवनके लिये व्रत रखा था॥ ४६४॥

प्रश्न—आजकल सैकड़ों वक्ता हो गये हैं और लाखों लोग उनकी बात सुनते हैं, फिर भी लोगोंके आचरणोंमें सुधार क्यों नहीं हो रहा है?

उत्तर—कारण यह है कि वक्ता खुद वैसा आचरण नहीं करते। खुद वैसा आचरण करनेसे ही वचनोंका असर पड़ता है। श्रोतामें जिज्ञासा नहीं है। जिज्ञासासे लाभ होता है, केवल सुननेसे नहीं॥ ४६५॥

प्रश्न—शास्त्रमें भगवत्कथाके वक्ता और श्रोता—दोनोंको ही दुर्लभ बताया है, पर आजकल दोनों ही बड़े सुलभ दीख रहे हैं, इसका कारण?

उत्तर—कारण कि दोनों ही नकली हैं!॥ ४६६॥

प्रश्न—शुकदेवजी बारह वर्षतक गर्भमें कैसे रहे?

उत्तर—गर्भमें जितना आकार होता है, उतने ही आकारका उनका शरीर रहा, पर बुद्धि (अन्त:करण) विकसित हो गयी। जन्मके बाद फिर उनका शरीर धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक आकारमें आ गया॥ ४६७॥

प्रश्न—श्रद्धा अन्धी होती है, पर उसमें धोखा हो जाय तो?

उत्तर—सच्ची श्रद्धावालेके साथ धोखा नहीं हो सकता। उसको दु:ख हो सकता है, पर उसकी हानि नहीं हो सकती। सीताजीने साधुरूपधारी रावणपर और हनुमान्‌जीने कालनेमिपर श्रद्धा की तो उनकी क्या हानि हुई? हानि तो रावण और कालनेमिकी ही हुई॥ ४६८॥

प्रश्न—श्राद्धका अन्न ग्रहण करना चाहिये या नहीं?

उत्तर—घरके लोग श्राद्धका अन्न खायें तो कोई दोष नहीं है; क्योंकि मरनेवाला अपना ही स्वजन है। परन्तु दूसरोंको कभी नहीं खाना चाहिये। अन्न बच जाय तो ब्राह्मणोंसे पूछकर जैसा वे कहें, वैसा उसका उपयोग कर दे। मृत्युके बाद तीसरे और बारहवें दिनका अन्न बहुत अशुद्ध होता है; अत: बचे हुए अन्नको पृथ्वीमें गाड़ देना चाहिये। वार्षिक पितृपक्षमें होनेवाले श्राद्धका अन्न भी दूसरेको नहीं खाना चाहिये। श्राद्धका भोजन ब्राह्मणको ही खिलानेका विधान है, गरीबों आदिको नहीं॥ ४६९॥

प्रश्न—प्राप्त वस्तुका सदुपयोग क्या है?

उत्तर—वस्तुको अपनी न मानना और जहाँ आवश्यकता दीखे, वहाँ उस वस्तुको दूसरोंकी सेवामें लगाना॥ ४७०॥

प्रश्न—किसीमें बचपनसे खराब स्वभाव पड़ा हुआ हो तो वह कैसे मिट सकता है?

उत्तर—पहले ऐसा मान ले कि स्वभाव असत् है और मिटनेवाला है। फिर सद्विचार करे, सच्छास्त्र पढ़े और सत्संग करे। सद्विचार, सच्छास्त्र और सत्संगसे स्वभाव मिट सकता है, शुद्ध हो सकता है॥ ४७१॥

प्रश्न—माता सीताने मृगचर्मके लिये स्वर्णमृगको मारनेके लिये क्यों कहा?

उत्तर—मृगको मारनेके लिये माता सीताने नहीं कहा, प्रत्युत छाया

सीताने कहा! सीता भी छायाकी थी और मृग भी छायाका था। छाया सीताने स्वर्णका लोभ किया तो भगवान्‌ने उसको स्वर्णकी नगरी लंकामें ले जाकर बैठा दिया। माता सीतामें तो सतीत्वका इतना तेज था कि बुरी नीयतसे स्पर्श करनेमात्रसे रावण भस्म हो जाता! ॥ ४७२ ॥

प्रश्न—कोई बात तो बचपनकी भी याद रहती है और कोई बात दो दिन पहलेकी भी याद नहीं रहती, इसका क्या कारण है?

उत्तर—काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक, दया आदि भावोंसे चित्त पिघल जाता है*। उस पिघले हुए चित्तमें बैठी बात नहीं भूलती। जिस बातमें चित्त नहीं पिघलता, वह बात भूल जाती है॥ ४७३ ॥

प्रश्न—वर्तमानमें हिन्दूलोग मुसलमानों तथा ईसाईयोंकी अपेक्षा पिछड़े हुए क्यों दीख रहे हैं?

उत्तर—अपने घरकी पोल तो हम जानते हैं, पर मुसलमानों-ईसाईयोंके घरकी पोल नहीं जानते, इसलिये ऐसा दीखता है। वास्तवमें नैतिक पतन सब धर्मवालोंका हुआ है। उन धर्मवालोंके बड़े-बूढ़ोंसे पूछकर देखो कि उनकी नयी पीढ़ीके युवक कैसे हैं? दूसरी बात, हिन्दूधर्म कलियुगके विपरीत पड़ता है, जबकि उनका धर्म कलियुगके कुछ अनुकूल पड़ता है। अतः उनको कलियुगसे सहायता मिल रही है। इन बातोंके सिवाय सरकारी कानून भी हमारे धर्मकी उन्नतिमें बाधक है।

कलियुगमें धर्म सामूहिक न होकर व्यक्तिगत होता है। जैसे, सभी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन करें— ऐसा नहीं होता। पर कोई भी ब्राह्मण अपने धर्मका पालन नहीं करे—ऐसा भी नहीं होता। इसलिये सन्तोंने कहा है—

तेरे भावै जो करौ, भलो बुरो संसार।
'नारायन' तू बैठ के, अपनो भवन बुहार॥

प्रश्न—विष्णुका ध्यान करते हुए यदि शंकर ध्यानमें आ जायँ तो क्या करना चाहिये?

---

* कामक्रोधभयस्नेहहर्षशोकदयाऽऽदयः।
तापकाश्चित्तजतुनस्तच्छान्तौ कठिनं तु तत्॥ (भक्तिरसायन १। ५)

उत्तर—विष्णु ही अपनी मरजीसे शंकररूपसे आये हैं—ऐसा मानकर प्रसन्न हो जाय। इतना ही नहीं, यदि कोई सांसारिक वस्तु या व्यक्ति भी ध्यानमें आ जाय तो ऐसा माने कि भगवान् ही इस रूपमें आये हैं। तात्पर्य है कि ध्यानमें चाहे जो भी आये, उसको अपने इष्टका ही रूप मानना चाहिये—'**वासुदेवः सर्वम्**'॥ ४७५॥

प्रश्न—भक्त भी भगवान्‌का ध्यान करता है और ध्यानयोगी भी, फिर ध्यानयोगी 'चलितमना' (योगभ्रष्ट) कैसे होता है?

उत्तर—ध्यानयोगीके साध्य तो भगवान् हैं, पर उसका साधन वृत्ति लगाना है, जबकि भक्तका साधन भी भगवान् हैं और साध्य भी भगवान् हैं॥ ४७६॥

प्रश्न—जब प्रकृतिकी सत्ता ही नहीं है, तो फिर शास्त्रोंमें प्रकृतिको अनादि क्यों कहा गया है?

उत्तर—हम प्रकृतिकी सत्ता मानते हैं, इसलिये शास्त्र हमारी भाषामें ही कहते हैं। दृष्टिभेदसे दर्शन अनेक हैं, तत्त्व एक है। जहाँ द्रष्टा, दृष्टि और दृश्य नहीं है, वहाँ भेद नहीं है। द्रष्टा, ज्ञाता, दार्शनिक, दर्शन जबतक हैं, तबतक भेद है। इनसे आगे तत्त्वमें भेद नहीं है॥ ४७७॥

प्रश्न—परमात्मा भी अनन्त हैं और प्रकृति भी अनन्त है—ये दो बातें कैसे? प्रकृति तो परमात्माके एक अंशमें है!

उत्तर—दोनोंकी अनन्ततामें फर्क है। परमात्मा अपार-असीम हैं, इसलिये अनन्त हैं। प्रकृति नष्ट नहीं होती, इसलिये अनन्त है—'**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्**' (योगदर्शन २। २२)॥ ४७८॥

प्रश्न—मनका निवास कहाँ है?

उत्तर—मनका निवास जाग्रत्-अवस्थामें नेत्रोंमें, स्वप्न-अवस्थामें 'हिता' नाड़ीमें और सुषुप्ति-अवस्थामें 'पुरीतती' नाड़ीमें होता है। जाग्रत्-अवस्थामें सब वस्तुओंका ज्ञान नेत्रोंसे ही होता है और नेत्रोंसे ही मनकी बात प्रकट होती है। अन्धे व्यक्तिकी नेत्र शक्ति कानोंमें चली जाती है॥ ४७९॥

प्रश्न—क्या मन ही मनुष्यके बन्धनका कारण है?

उत्तर—मनुष्यके बन्धन या मुक्तिका कारण मन नहीं है। खुदमें ही बन्धन है और खुदकी ही मुक्ति होती है। मनमें दोष कभी था नहीं, है नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। कारण कि मन तो एक करण है। करण कभी स्वतन्त्र नहीं होता, प्रत्युत कर्ताके अधीन होता है। दोष कर्तामें होता है, करणका क्या दोष? लेखकमें दोष होता है, कलमका क्या दोष? कर्ताका दोष ही करणमें आता है। कर्तामें दोष न हो तो करणमें दोष आ सकता ही नहीं। अतः अपना दोष ही मनमें दीखता है। मन तो दर्पण है। असत्‌की मान्यता खुदमें ही है॥ ४८०॥

प्रश्न—धूम्रपान आदि व्यसनोंमें लगे हुए कई व्यक्तियोंको रोग तुरन्त पकड़ लेता है और कई व्यक्तियोंको रोग नहीं पकड़ता, इसमें क्या कारण है?

उत्तर—शरीरकी प्रकृति अलग-अलग होनेसे किसीको रोग जल्दी पकड़ता है, किसीको नहीं पकड़ता। परन्तु कैसा ही व्यसन हो, उसमें पराधीनता तो है ही! पराधीनतासे कोई बच नहीं सकता॥ ४८१॥

प्रश्न—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है या आयु भी बढ़ती है?

उत्तर—चिकित्सासे केवल रोग नष्ट होता है, आयु नहीं बढ़ती। मनुष्य आयु पूरी होनपर ही मरता है, पहले नहीं। बड़े-से-बड़ा रोग आनेपर भी यदि प्रारब्धमें आयु शेष होगी तो कोई-न-कोई उपाय मिल जायगा, जिससे रोग मिट जायगा अथवा रोग रहते हुए भी वह जीता रहेगा। चिकित्सासे कुपथ्यजन्य रोग मिटते हैं, प्रारब्धजन्य रोग नहीं मिटते॥ ४८२॥

प्रश्न—न चाहते हुए भी अनुकूलता-प्रतिकूलताका असर पड़ जाय तो क्या करें?

उत्तर—उसकी परवाह मत करो। यह देखो कि वह असर सदा और एक समान रहता है क्या? वास्तवमें असर मन-बुद्धिपर पड़ता है, पर मन-बुद्धिको अपना माननेके कारण अविवेककी प्रधानतासे हम उस असरको अपनेमें मान लेते हैं ॥ ४८३॥

प्रश्न—हमारी संस्कृतिपर विदेशी प्रभाव अधिक क्यों पड़ता है?

उत्तर—हिन्दू संस्कृति सफेद कपड़ेकी तरह स्वच्छ है, इसलिये इसपर दूसरा रंग बहुत जल्दी चढ़ता है अर्थात् दूसरेकी बातोंको यह बहुत जल्दी ग्रहण कर लेती है॥ ४८४॥

प्रश्न—क्या पशु-पक्षीको अपनी जूठन दे सकते हैं?

उत्तर—हाँ, दे सकते हैं। पर गायको जूठन नहीं देनी चाहिये॥ ४८५॥

प्रश्न—पानीकी टोंटीमें सब जगह चमड़ेका वाशर लगाया जाता है; अतः पानी कैसे काममें लें?

उत्तर—जहाँ परवशता हो, बचनेका कोई उपाय न हो, वहाँ निर्वाहमात्रका दोष नहीं लगता—'**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्**' (गीता ४। २१)॥ ४८६॥

प्रश्न—शिवनिर्माल्यको त्याज्य माना गया है। शिवनिर्माल्य क्या है?

उत्तर—शिवलिंगपर चढ़ा हुआ पदार्थ शिवनिर्माल्य है। जो पदार्थ शिवलिंगपर नहीं चढ़ा, वह शिवनिर्माल्य नहीं है। द्वादश ज्योतिर्लिंगोंमें शिवलिंगपर चढ़ा पदार्थ भी शिवनिर्माल्य नहीं माना जाता॥ ४८७॥

प्रश्न—अन्न कैसे शुद्ध होता है?

उत्तर—भोजनके पदार्थ सात्त्विक हों, शुद्ध कमाईके हों, पवित्रतापूर्वक बनाये जायँ और भगवान्‌के अर्पण करके पाया जाय॥ ४८८॥

प्रश्न—क्या भूत-प्रेतोंको निकालनेका काम करनेवालेकी दुर्गति होती है?

उत्तर—दुर्गति तब होती है, जब भूत-प्रेतोंको कष्ट दिया जाय; जैसे—उनको कीलित करना, बोतलमें बन्द करना आदि। अतः गयाश्राद्ध आदि करवाकर उनकी सद्‌गति करानी चाहिये, जिससे उनका भी हित हो और उस व्यक्तिका भी हित हो, जिसे प्रेतने पकड़ा है। इस प्रकार उनके हितकी दृष्टि होनेसे दुर्गति नहीं होती॥ ४८९॥

प्रश्न—सत्यनारायणकी कथा क्या है?

उत्तर—केवल कहानीको ही कथा नहीं कहते, प्रत्युत शास्त्रार्थ,

वाक्य-प्रबन्ध आदिको भी कथा कहते हैं। सत्यनारायण भगवान्‌का व्रत, पूजन एवं उसके विधि-विधानका वर्णन 'कथा' कहलाता है। आरम्भमें जिसने सत्यनारायणका व्रत-पूजन किया, उसके चरित्रको आगेके व्यक्ति भी कहने लग गये॥ ४९०॥

प्रश्न—क्या घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रख सकते हैं?

उत्तर—जरूर रख सकते हैं। घरमें महाभारत और गरुड़पुराण रखनेमें तथा पढ़नेमें कोई दोष नहीं है॥ ४९१॥

प्रश्न—शाप-वरदानसे होनेवाला काम ही होता है अथवा नया काम भी होता है?

उत्तर—शाप-वरदानमें विशेष शक्ति (तपोबल) होती है। उससे वह भी हो सकता है, जो नहीं होनेवाला है। ऐसा शाप-वरदान ऋषि-मुनियोंका ही नहीं, साधारण मनुष्योंका भी लग सकता है; क्योंकि उनके शाप-वरदानके पीछे विशेष दुःख या विशेष प्रसन्नता होती है। परन्तु अमुक घटना शाप-वरदानसे घटी अथवा वैसा ही होनेवाला था—इसका पूरा पता लगता नहीं।

शाप-वरदान देनेसे स्वभाव बिगड़ता है और पारमार्थिक पुण्यकी हानि होती है। अतः दूसरेको शाप या वरदान नहीं देना चाहिये॥ ४९२॥

प्रश्न—शान्ति कैसे मिलती है?

उत्तर—शान्ति कामनाके त्यागसे मिलती है। अतः जैसा मैं चाहूँ, वैसा हो जाय और जिसको चाहूँ, वह मिल जाय—इस कामनाका त्याग करना चाहिये॥ ४९३॥

प्रश्न—त्याग करनेसे शान्ति मिलती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' (गीता १२। १२), क्या त्यागसे पहले भी शान्ति मिल सकती है?

उत्तर—हाँ, उद्देश्य बननेमात्रसे शान्ति मिलती है। हमें केवल भजन करना है, और कुछ करना है ही नहीं—ऐसा निश्चय होनेमात्रसे दुविधा मिट जाती है और शान्ति मिल जाती है॥ ४९४॥

प्रश्न—प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—अनुकूल परिस्थितिमें दूसरोंकी सेवा करना और प्रतिकूल परिस्थितिमें सुखकी इच्छाका त्याग करना परिस्थितिका सदुपयोग है। खास बात है कि प्राप्त परिस्थितिको भगवान्‌की मरजी माने। वह परिस्थिति अगर अपने कर्मोंका फल है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर संसारसे मिली है तो भी भगवान्‌की मरजी है। अगर भगवान्‌का विधान है तो भी भगवान्‌की मरजी है॥ ४९५॥

प्रश्न—हम भजन-ध्यान कर रहे हैं और पासमें हल्ला होने लगे तो इस परिस्थितिका सदुपयोग कैसे करें?

उत्तर—इसको भगवान्‌की मरजी माननी चाहिये और उसे सुनकर राजी होना चाहिये। अगर ऐसी परिस्थितिमें भजन-ध्यान न कर सकें तो उसकी हमपर जिम्मेवारी ही नहीं। जिम्मेवारी उतनी ही होती है, जितना कर सकें॥ ४९६॥

प्रश्न—सर्वश्रेष्ठ मनुष्य कौन है?

उत्तर—जिसका अहम् सर्वथा मिट गया है अर्थात जिसको **'वासुदेवः सर्वम्'** का अनुभव हो गया है॥ ४९७॥

प्रश्न—सर्वोत्कृष्ट अनुभव क्या है?

उत्तर—केवल भगवान् ही मेरे हैं; सिवाय भगवान्‌के मेरा कोई नहीं है—यह अनुभव॥ ४९८॥

प्रश्न—वास्तवमें अपनी वस्तु क्या है?

उत्तर—अपनी वस्तु वह है, जो सदा साथ रहे, कभी बिछुड़े नहीं। जो वस्तु मिली है और बिछुड़नेवाली है, वह कभी अपनी तथा अपने लिये नहीं हो सकती। शरीर, वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य हमें मिले हैं तथा बिछुड़नेवाले हैं, इसलिये ये अपने और अपने लिये नहीं हैं। भगवान् सदा साथ रहते हैं तथा कभी बिछुड़ते नहीं, इसलिये वे अपने तथा अपने लिये हैं॥ ४९९॥

प्रश्न—अन्तिम बात क्या है?

उत्तर—एक चिन्मय सत्ताके सिवाय कुछ नहीं है॥ ५००॥